जैन भारती

वर्ष 51 • अंक 6 • जून, 2003

'मैं 82 पार कर चुका हूं (लाडनूं, वि.सं. 2053)। तुम भी 77 में हो। अब जो अत्यंत अनिवार्य कार्य हैं, उनकी तालिका बनाओ। तुलसी-महाप्रज्ञ का युग बार-बार नहीं आएगा।' कैसे हो सह-चिंतन? अपने जीवनकाल में महाप्रज्ञ को अपने से भी अधिक यशस्वी आचार्य ... चाहता हूं। इसमें मेरा ... मार्गदर्शन जहां भी ... वह निश्चित ... मौलिक स्व... उसे नया ... निर्माण ... अनिवार्य ... अंतर्दृष्टि ... निःसंकोच ... विसर्जन ... मिली है, ...

'मैं जिस दिन दीक्षित हुआ, उस दिन से लेकर अंतिम दिन तक साथ रहा, सन्निधि में रहा, अनेक रूपों में संबद्ध रहा, आत्मीय बना रहा और अद्वैत बना रहा। अभेद से होने वाली भेदानुभूति के बारे में यह उक्ति सार्थक होगी—'जाणै जाणणहार, ... जाणै नहीं' मुझ पर जो ... उसकी मांग थी कि ... प्रकंपन का ... इस धर्म को ... किया। ... लाकर, ... करना ... देव! मैं ... करता, ... करता, ... नहीं। ... कि मैं

With best compliments from :

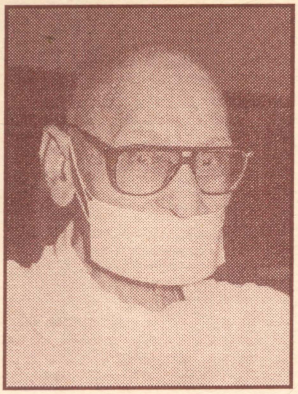

KOTHARI METALS LTD.

website : www.kotharimetal.com

SPECIALISTS IN NON FERROUS METALS

Head Office :

'Lords', 7/1 Lord Sinha Road, 5th Floor
Kolkata 700071

Phone : (033) 22828532/8534/7949 • Fax : (033) 22828462
e-mail : vikashji@cal2.vsnl.net.in

Branches at :

Delhi • Mumbai • Gurgaon • Bhiwadi (Rajasthan)
• Ludhiana (Punjab)

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 51 • जून, 2003 • अंक 6

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
जगत के रहस्य और हम

13
संतोष आचार्य
पाप-पुण्य : वैदिक-अवैदिक विवेचन

19
निहालचन्द जैन
कर्म सिद्धांत की वैज्ञानिकता

•
आवरण
अडिग/खेराज

अनुभूति

25
डा. राजानंद
प्रज्ञा-गंगोत्री की पुष्कल धारा

31
मुनि रमेशकुमार
पर्यावरण, अहिंसा और संयम

35
कहानी
श्रीराम वर्मा
प्रार्थना का कवच

40
कविता
नन्दकिशोर आचार्य की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
परिग्रह-अपरिग्रह

शीलन

43
विनोबा
पूर्णात् पूर्णमुदच्यते

45
साध्वी मुदितयशा
साधना का सिद्ध पुरुष

48
मुनि प्रशांतकुमार
फनकारी है जीवन जीना

51
बालकथा
यशपाल जैन
सबसे बड़ा धन

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में जो तर्क उपस्थित किए जाते हैं उनमें से कई के मूल में यह विश्वास है कि जगत की कभी-न-कभी सृष्टि हुई, परंतु इस बात का प्रमाण क्या है? हम वस्तुओं का बनना-बिगड़ना देखते हैं, इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि जगत का भी कभी सर्ग हुआ होगा और उसका भी कभी प्रतिसर्ग होगा। परंतु जिसको वस्तुओं का बनना-बिगड़ना कहते हैं उसमें क्या होता है? छोटे टुकड़ों के मिलने से बड़े पिंड बनते हैं, बड़े पिंड टूटकर छोटे टुकड़ों में बिखर जाते हैं, तत्त्वों के मेल से मिश्रित पदार्थ बनते हैं और मिश्रित पदार्थों के अवयव पृथक् हो जाते हैं, स्थूल से सूक्ष्म रूपों में परिणत हो जाते हैं, परंतु ऐसा कदापि नहीं होता कि जो है वह कुछ नहीं हो जाए, कुछ नहीं से कुछ बन जाए। सत का असत नहीं होता, असत से सत नहीं निकलता। बनना-बिगड़ना केवल रूपांतरित होने का, धर्मपरिणाम का नाम है। जो बात छोटे पिंडों के लिए है वह समूचे जगत के लिए भी लागू हो सकती है। उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। पुराने तारे, ग्रह, गिरि, सागर आदि का क्षय हो रहा है और नयों का उदय। जो परिवर्तन थोड़े काल में नहीं देख पड़ता वह भी दीर्घ काल में प्रत्यक्ष का विषय बन जाता है। यह माना जा सकता है कि कभी ऐसा रहा होगा कि यह नीहारिकाएं, यह नक्षत्र और ग्रह न रहे हों और फिर एक दिन ऐसा आ सकता है कि न रहें। इसको सर्ग-प्रतिसर्ग कह सकते हैं पर इसमें उत्पत्ति-विनाश की कोई बात नहीं है। केवल एक रूप से दूसरा रूप हुआ है और होगा। किसी बाहरी व्यक्ति या शक्ति को बीच में लाने की आवश्यकता नहीं है। जो ऋत, जो स्वभाव, आज परिवर्तन करा रहा है वह आज से पहले भी था और बाद में भी रहेगा। उसी ने यह रूप दिया, वही दूसरा रूप देगा। हम यह न बतला सकें कि जिसको हम सर्ग कहते हैं उसके पहले क्या रूप था और जिसको हम प्रतिसर्ग कहते हैं उसके बाद क्या रूप होगा, पर इतना अनुमान कर सकते हैं कि वह सर्ग वाला रूप भी पहला नहीं था, परिणाम का फल था और प्रतिसर्ग वाला रूप भी अंतिम न होगा, उसमें भी परिणाम होगा। वह धर्मी क्या है जिसमें इस प्रकार धर्म-परिणाम होता रहता है, यह स्वतंत्र प्रश्न है जिस पर अन्यत्र विचार होगा। इस विमर्श का यह मथितार्थ निकला कि जिसको हम जगत कहते हैं वह सदा एक-सा नहीं रहता, रूप बदलता रहता है पर उसका न प्रागभाव था, न प्रध्वंसाभाव होगा, परिणामप्रवाह निरंतर जारी रहता है। इसलिए उसके आत्यंतिक उत्पाद और विनाश की कल्पना निराधार है।

—संपूर्णानन्द

जो कार्य करना साध्य के अनुकूल नहीं है, उसे करवाना और करने वाले का अनुमोदन करना भी साध्य के अनुकूल नहीं हो सकता। कृत, कारित और अनुमति—तीनों अभिन्न हैं।

1. (क) जो कार्य करना धर्म है, उसे करवाना और उसका अनुमोदन भी धर्म है।
   (ख) जो कार्य करवाना धर्म है, उसे करना और उसका अनुमोदन भी धर्म है।
   (ग) जिसका अनुमोदन धर्म है, उसे करना और कराना भी धर्म है।
2. (क) जो कार्य करना धर्म नहीं, उसे करवाना और उसका अनुमोदन भी धर्म नहीं।
   (ख) जो कार्य करवाना धर्म नहीं, उसे करना और उसका अनुमोदन भी धर्म नहीं।
   (ग) जिसका अनुमोदन भी धर्म नहीं, उसे करना और कराना भी धर्म नहीं। हिंसा करना पाप है, करवाना पाप है और उसका अनुमोदन भी पाप है। अहिंसा का पालन करना धर्म है, करवाना धर्म है और उसके पालन का अनुमोदन करना भी धर्म है।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

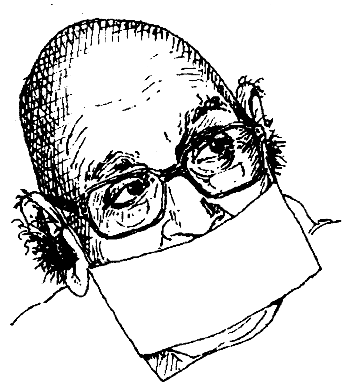

संसार में हर्ष और विषाद का युगल साथ-साथ रहता है। घर में किसी का जन्म होता है तो हर्ष बढ़ता है। मृत्यु विषाद का संदेश लेकर आती है। साधु बनने के बाद जन्म के प्रसंग में खुशी नहीं होती और मृत्यु के प्रसंग में विषाद नहीं होता। इसी प्रकार जितनी अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियां हैं, उनमें संतुलन नहीं टूटता। यह त्याग का प्रभाव है, व्रतों का प्रभाव है। जब तक देश में साधु रहेंगे, वे त्याग की भावना को अस्त नहीं होने देंगे। देशवासियों का यह दायित्व है कि वे साधुओं के त्यागमय जीवन से प्रेरणा लेकर महाव्रत नहीं तो अणुव्रत अवश्य स्वीकार करें। इससे वे स्वयं आनंद का अनुभव करेंगे और देश की समस्याओं के समाधान में सक्रिय भूमिका निभा पाएंगे।

—पावन स्मरण—
आषाढ़ कृष्णा तृतीया
17 जून, 2003

—आचार्यश्री तुलसी

विनम्र अभिवंदना

जन्मोत्सव

आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी

27 जून, 2003

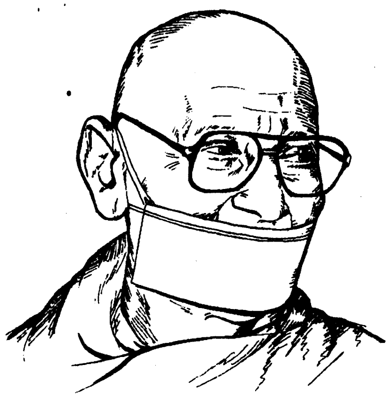

मैं धर्म की उपासना करता हूं, पर उसकी नहीं करता, जो मृत है। मैं उसकी उपासना करता हूं जो जीवित है। जीवित वही है जिसका वर्तमान पर अधिकार है। अतीत अस्त होता है, इसलिए कि वह अपना कार्य कर चुकता है। भावी अस्त होता है कि वह कार्यक्षम नहीं होता। सत वर्तमान है। उसकी उज्ज्वलता से भूत चमकता है और भावी बनता है।

तुम जीवित रहना चाहते हो तो कोरे अतीत के गीत मत गाओ। कोरी कल्पना की उड़ान मत भरो। आज क्या करना है, इसे सोचो, दो क्षण गहराई से सोचो।

तुम सहिष्णु हो, अनुशासित हो, स्थिरचेता हो, परिवर्तन की मर्यादा को जानते हो तो तुम जीवित हो, तुम्हारा धर्म जीवित है, वर्तमान पर तुम्हारा अधिकार है और तुम्हारा वर्तमान उज्ज्वल है।

अपनी भूलों को देखने, सुनने, स्वीकार करने और उनका परिमार्जन करने में तुम क्षम हो तो तुम जीवित हो, तुम्हारा धर्म जीवित है, वर्तमान पर तुम्हारा अधिकार है और तुम्हारा वर्तमान उज्ज्वल है।

दूसरों की अच्छाइयों को देखने, सुनने, स्वीकारने और अपनाने में तुम क्षम हो तो तुम जीवित हो, तुम्हारा धर्म जीवित है, वर्तमान पर तुम्हारा अधिकार है और तुम्हारा वर्तमान उज्ज्वल है।

धर्म इसलिए जीवित तत्त्व है कि उसमें वर्तमान उज्ज्वल होता है। वह इसीलिए शाश्वत तत्त्व है कि उसमें वर्तमान सदा उज्ज्वल होता है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

परिग्रह-अपरिग्रह

आमतौर पर देखने में यही आता है कि घर-गृहस्थी छोड़कर जिसने संन्यास ले लिया और साधु जीवन बसर करना शुरू कर दिया—वह अपरिग्रही की श्रेणी में आ गया। ठीक इसी तरह जो लोग घर-गिरस्ती के धर्म-कर्तव्य को निभा रहे हैं—उनके बारे में यही कहा-माना जाता है कि वे लोग परिग्रह-मुक्त नहीं हो सकते, अपरिग्रह की श्रेणी में नहीं आ सकते। इस तरह परिग्रह-अपरिग्रह के श्रेणी-विभाजन में यह सामान्य वर्गीकरण बन गया है कि साधु-संन्यासी पूर्णतः अपरिग्रही होते हैं, पर घर-गृहस्थी वाले परिग्रह से मुक्त नहीं हो सकते हैं। इस वर्गीकरण पर चाहें तो बहस भी चला सकते हैं और यह विवाद का मुद्दा भी बन सकता है कि घरबार छोड़ संन्यास धारण करने वालों में भी परिग्रही मिल जाएंगे और गृहस्थ-धर्म का पालन करने वालों में भी हम अपरिग्रही जनों की एक लंबी सूची बना सकते हैं। फिलवक्त हम इस बहस में नहीं जाएं। ऐसी किसी बहस को चलाने का कोई मंतव्य भी हमारा नहीं है।

पर इस बात से जो एक बात निकल कर आती है और उससे यह जो ध्वनित होता है कि परिग्रह समाजरोधी तत्त्व है, जबकि अपरिग्रह या अपरिग्रही समाज में आदरास्पद स्थान के हकदार हैं—क्या इसे भी बिना बहस छोड़ दिया जाए? किसी हद तक इसे सही माना जा सकता है कि धार्मिक दृष्टि में परिग्रह पाप का मूल माना गया है और अपरिग्रह का स्थान धर्म में सर्वोत्कृष्ट रखा गया है। मानना चाहिए कि इस बिंदु पर भी हमें किसी बहस की खास आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

परिग्रह-अपरिग्रह पर चर्चा करते हुए जो विचारणीय बिंदु जरूरी हो जाता है—वह है एषणा। किसी के पास बेहद भौतिक संसाधन हैं, पर उनमें आसक्ति नहीं है, एषणा नहीं है—क्या उसे अपरिग्रही मान लेंगे? और कोई घोर अभावों का जीवन बसर कर रहा है, उसकी आधारभूत जरूरतें भी पूरी नहीं हो पातीं, पर मन की इच्छाएं सब-कुछ पाने को हर पल लालायित रहती हैं—उसे किस श्रेणी में रखेंगे—वह परिग्रही कहलाएगा या अपरिग्रही? जाहिर है कि

साधनहीन या साधनसंपन्न होने-भर से ही किसी को अपरिग्रही अथवा किसी को परिग्रही नहीं ठहराया जा सकता। यह मन की अवस्था है, वैचारिक स्तर पर उस बिंदु तक पहुंच जाने की अवस्था है—जहां वस्तु या ऐश्वर्य के प्रति किसी तरह का आकर्षण, आसक्ति शेष ही नहीं रहते। यह अवस्था घर-गृहस्थी छोड़ने से ही प्राप्त नहीं हो जाती। ऐसे भी विरले लोग मिल ही जाएंगे जो ऐश्वर्य और वैभव के बीच रहकर भी पूरी तरह निर्लिप्त नजर आते हैं, यह सब उन्हें लुभाता नहीं। स्पष्ट है कि परिग्रह या अपरिग्रह का आधार साधु-संन्यासी या घर-गृहस्थी नहीं हो सकते।

अतः जब हम परिग्रह या अपरिग्रह पर चर्चा करें तो किसी तरह के वर्गीकरण से बचें और इस बात से भी बचें ही कि परिग्रह पाप का मूल है या कि अपरिग्रही के आगे श्रद्धा से सिर झुक जाता है। हम जिस परिवेश में रहते हैं और जिन समस्याओं से हमारा सामाजिक जीवन दिनोदिन विषम बनता जा रहा है, क्या हम परिग्रह या अपरिग्रह की चर्चा ऐसे बिंदु पर केंद्रित कर सकते हैं जो सामाजिक विषमताओं से मुक्त होने में सहायक हो सके? हमें सोचना ही चाहिए कि जो सम-सामयिक परिस्थितियां जिस तरह आज हमारे सामाजिक जीवन को प्रभावित कर रही हैं, उनसे मुक्त होने में अथवा ऐसी जटिलताओं को कम से कमतर करने के क्या उपाय हो सकते हैं?

मानसिक या कायिक रूप से हर व्यक्ति सुखोपभोग का इच्छुक रहता है। वह पुरुषार्थ करता है, पर सुखोपभोग के कम या अधिक के लिए भाग्य को भी कारक मानता है। भाग्य और पुरुषार्थ के साम्ययोग से ही सुखोपभोग उपलब्ध होते हैं—यह सामान्य दृष्टिकोण रहता है। अतः कोई अधिक पुरुषार्थ करके भी भाग्यहीन कहलाता है और कोई अपने पुरुषार्थ के बल पर अपरिमित वैभव अर्जित कर लेता है, फिर भी उपभोग नहीं कर पाता। हम देखते ही हैं कि अनेक शारीरिक व्याधियां, पारिवारिक तनाव समूचे सुख को छीन लेते हैं। तब कहा जाता है कि सुख भाग्य में नहीं, पर सुखोपभोग की एषणा ऐसे लोगों में भी बलवती रहती है और यही उनके जीवन को कष्टकर बनाती है। शारीरिक रुग्णता से भी अधिक वेदनादायक होती हैं ऐसी स्थितियां। कहा जा सकता है कि संकट परिग्रह का नहीं—एषणा का है, भोग न कर पाने का है।

इस हालत से मुक्त होने का उपाय मानसिक और वैचारिक परिपक्वता ही हो सकता है। दैहिक या भौतिक सुखोपभोग से मुक्त होने का उपाय भी यही है। निश्चय ही यह साधना और आध्यात्मिक निष्ठा से ही संभव हो सकता है। यह बात एक व्यक्ति-इकाई के स्तर तक की हुई, हमें सामाजिक स्तर पर छाई विषमता से मुक्त होने के उपायों पर भी विचार करना चाहिए। सही है कि व्यक्ति-इकाई से ही समाज बनता है और जब व्यक्ति-इकाई एषणामुक्त हो जाएगा तो समाज में व्याप्त विषमताएं स्वाभाविक रूप से ही समाप्त हो जाएंगी। पर क्या यह इतना सरल है? समाज के स्तर पर सामूहिक प्रयास ही फलदाई हो सकते हैं। इसके लिए सामुदायिक स्तर पर ऐसे साझा प्रयास जरूरी हैं, जहां परिग्रह का रूप विषमतामूलक न होकर समतामूलक रूप में प्रकट हो। सामाजिक स्तर पर परिग्रह का ऐसा स्वरूप विकृतिमुक्त समाज-निर्माण में सहायक सिद्ध हो सकता है। व्यवहार-स्तर पर कैसा ढांचा हो—यह समाज के चिंतनशील जन सोच सकते हैं।

पुरुषार्थ और भाग्य की चर्चा हमने की। माना जा सकता है कि पुरुषार्थ सभी का नहीं फलता। किसी का कम और किसी का अधिक फलदाई होता ही है। परिग्रह को पाप का मूल न मानते हुए एक प्रखर भाग्यवान अपने प्रबल पुरुषार्थ से यदि सर्वाधिक धन-संसाधन अर्जित करे और अपने समूचे अर्जन के प्रति अनासक्त रहते हुए उसमें समाज की सहभागिता भी स्थापित करे तो विषमता और जटिलताओं की दीवारें स्वतः ध्वस्त होती नजर आएंगी। जिन प्रतिकूलताओं से हम अपने-आप को घिरा हुआ पाते हैं, उनसे मुक्त होने का रास्ता सरलता से प्रशस्त हो सकता है।

हम गांधी की 'ट्रस्टीशिप' को याद करें। उसके मूल-भाव को यदि पूरी तरह से अंगीकार किया जाए तो एक ओर हम सामाजिक विषमता से मुक्त होने के मार्ग के अनुगामी हो जाएंगे तो दूसरी ओर परिग्रह में से ही अपरिग्रह का सिद्धांत भी फलीभूत होता नजर आएगा। पुरुषार्थ और संसाधनों का विकास यदि सहभागी, सहजीवी आधार को सुदृढ़ करने में योगभूत होगा तो विसंगतियां स्वतः निर्मूल होती चली जाएंगी।

अतः परिग्रह-अपरिग्रह को आज सामाजिक सिद्धांत बनाने की अधिक आवश्यकता है, न कि उसमें केवल धर्म के तत्त्व को तलाशते रहने की; तथापि व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो धर्म का काम भी अंततः समता और समरसता की प्रस्थापना करना ही है और इसके लिए ही वह प्रतिबद्ध भी है।

—शुभू पटवा

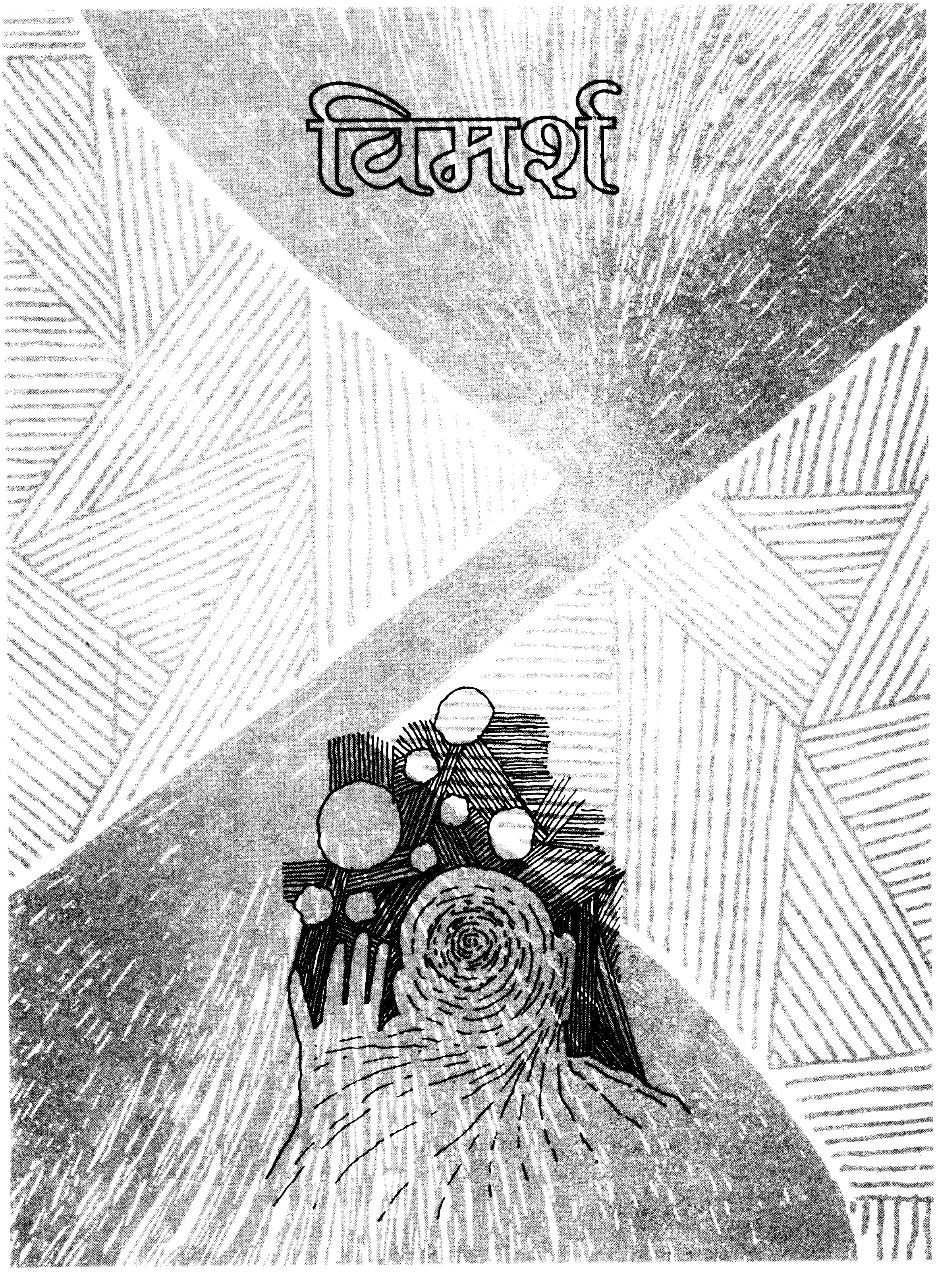
विमर्श

भारतीय संस्कृति भी एक धार्मिक संस्कृति है! बल्कि भारतीय संदर्भ में तो 'संस्कृति' शब्द अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव का ही परिणाम माना जा सकता है और यही कहना अधिक सही होगा कि भारत में धर्म न केवल संस्कृति का आधार रहा है बल्कि जिसे आधुनिक अर्थ में 'संस्कृति' कहा जाता है वह धर्म के अनुष्ठान पक्ष का एक विस्तार ही रही। लेकिन ईसाइयत जिस प्रकार एक प्रवर्तक और एक आदि-बिंदु से जुड़ी है, भारत में धर्म का वैसा रूप नहीं है। संप्रदायों की बात अलग है; और संप्रदायों को धर्म मानने की नई प्रवृत्तियों के (जिनके कारणों में जाना यहां प्रासंगिक नहीं है) परिणाम में इतिहास की जो दुर्गति होती है और हो रही है, वह हमारे तर्क को पुष्ट ही करेगी। ईसाइयत जिस प्रकार की 'ऐतिहासिकता' का दावा करती है वैसा दावा भारतीय संदर्भ में कोई अर्थ नहीं रखता रहा। यहां धर्म की परिधि के भीतर अनेक संप्रदायों के अनेक प्रवर्तक हुए और इसलिए एक विशेष अर्थ में यह कहा जा सकता है कि यहां एकाधिक ऐतिहासिक परंपराएं भी बनीं जिनके अपने-अपने आरंभ-बिंदु भी हैं। लेकिन ऐसे प्रवर्तन-बिंदुओं को काल-गणना का आरंभ-बिंदु नहीं बनाया गया—इन प्रवर्तकों के नाम से संवत् नहीं चले, भले ही कुछ संप्रदायों में वैसा भी एक संवत् साथ-साथ लिख देने की परंपरा चली। यह भी लक्ष्य किया जा सकता है कि इस स्थिति के कारण भारतीय सभ्यता में एक बहुकेंद्रिकता रही जिसे उसकी शक्ति भी माना जा सकता है। इस बहुकेंद्रिकता के कारण ही यह संस्कृति ऐतिहासिकतावाद से आक्रांत होकर भी अपनी अस्मिता को टूटने से बचाए रख सकी।

—अज्ञेय

जगत के रहस्य और हम

✍ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ✍

जिस जगत में हम जी रहे हैं, आज भी वह जगत रहस्य बना हुआ है। रहस्य को अनावृत करने के लिए अनेक दार्शनिकों ने अनेक प्रकार के चिंतन किए और अपने-अपने चिंतन प्रस्तुत किए। जैन दर्शन ने भी अपना चिंतन प्रस्तुत किया—जगत के विषय में भी और हमारे अस्तित्व के विषय में भी। ये दोनों विषय जानने योग्य हैं तथा तार्किक व दार्शनिक दृष्टि से बहुत समृद्ध हैं।

जहां जगत का प्रश्न है, ईश्वर का प्रश्न वहां अपने-आप जुड़ जाता है, इसलिए जुड़ता है कि जगत कब बना, किसने बनाया और कैसे बनाया—ये तीन प्रश्न जगत के बारे में प्रस्तुत किए जाते हैं। इस विषय में जैन दर्शन का चिंतन रहा कि यह जगत अकृत्रिम है। किसी ने बनाया नहीं। कभी बना नहीं। तब कैसे बना—यह प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। यह अनादिकाल से है। न इसका आदि है और न इसका अंत। बात समाप्त हो जाती है। यह चिंतन इसलिए प्रस्तुत किया गया कि जगत को कृत मानें तो बहुत-सारी समस्याएं पैदा होती हैं। ऐसे जटिल प्रश्न पैदा हो जाते हैं, जिनका कोई समाधान नहीं दीखता है। यदि किसी ने जगत को बनाया तो जगत अलग हो गया और बनाने वाला जगत से अलग हो गया। जगत अलग, कर्ता अलग। अलग आया कहां से? वह जगत में है या अजगत में? अगर बनाने वाला जगत में नहीं है तो फिर दो जगत बन गए। कोई एक वैसा जगत है, जिसमें यह जगत नहीं है। बहुत बड़ी समस्या पैदा हो जाती है। फिर ईश्वर की प्रकृति और जगत की प्रकृति का मेल भी नहीं है। ईश्वर तो है चेतन और जगत में अचेतन भी है। दोनों की प्रकृति में मेल नहीं है। फिर यह अचेतन कहां से आया? जगत कहां से आया? कहीं बाहर से कुछ लाकर बनाया या अपने भीतर से बनाया? अगर अपने भीतर से बनाया तो बनाया नहीं, बल्कि विस्तार हुआ। फिर तो ईश्वर का विस्तार जगत है, न कि ईश्वर की कृति जगत है। कृति नहीं, विस्तार हो गया। अगर कृति माना जाए तो बाहर से कोई मसाला लाया गया होगा और लाकर बनाया गया होगा। कुम्हार घड़ा बनाता है, तो खदान से मिट्टी लाता है, फिर घड़ा बनाता है। तो ईश्वर भी कहां से मसाला लाया, जिससे कि जगत बनाया। क्यों बनाया? प्रयोजन क्या? प्रयोजन की भी बड़ी समस्या है। आज तक भी दार्शनिक चर्चा में, प्रयोजन के बारे में कोई स्पष्ट कारण नहीं बताया जा सका कि ईश्वर ने जगत को क्यों बनाया? जो प्रयोजन बताए गए, वे ऐसे हैं कि जिन पर बहुत भरोसा नहीं किया जा सकता। प्रयोजन भी जटिल प्रश्न है।

> *इस दुनिया में हम अकेले नहीं हैं। बहुत बड़ा सूत्र है कि हम अकेले नहीं हैं। अचेतन भी हैं, चेतन भी हैं। हमारा प्रतिपक्षी तत्त्व है अचेतन—उसका भी अस्तित्व है और हमारा भी अस्तित्व है। जहां अस्तित्व का प्रश्न है, जैन दर्शन ने बताया कि चेतन और अचेतन में कोई भेद नहीं है। अस्तित्व की दृष्टि से चेतन और अचेतन दोनों समान हैं। भेद कहां होता है? व्यक्तित्व कहां बनता है? जहां एक द्रव्य है चेतन और दूसरा द्रव्य है अचेतन। जिसमें चेतना है, ज्ञान है, जानने की क्षमता है—वह है चेतन जीव। जिसमें चेतना नहीं है, जानने की योग्यता नहीं है—वह है अजीव।*

इन सारी समस्याओं को ध्यान में रखकर जैन दार्शनिकों ने एक सिद्धांत स्वीकार किया कि जगत अनादि है, अनंत है, अकृत है। इसको किसी ने बनाया नहीं। यह बना-बनाया है। जब अकृत है तो कब का प्रश्न ही नहीं उठता। कभी पैदा ही नहीं हुआ। न कर्ता का प्रश्न, न कब का प्रश्न, न कैसे का प्रश्न। सब स्वाभाविक हैं। जगत था, है और रहेगा।

जगत का मतलब हमारी पृथ्वी नहीं है। यह पृथ्वी बन सकती है और यह पृथ्वी मिट सकती है। जगत का अर्थ यह सूर्य, चंद्रमा, खगोल नहीं है, तारे और नीहारिका नहीं है। जगत का अर्थ है—मूल तत्त्व, मूल पदार्थ। मूल तत्त्व हैं दो—चेतन और अचेतन।

इनका निर्माण किसी ने नहीं किया। ये मूल हैं और इन्हीं का नाम है जगत।

जैन दार्शनिकों ने दो-तीन दृष्टिकोणों से जगत की व्याख्या की है। एक व्याख्या है—द्वैतवादी व्याख्या। जीव और अजीव, चेतन और अचेतन, इसका नाम है—जगत।

दूसरी व्याख्या है—पंचास्तिकाय का नाम है जगत।

तीसरी व्याख्या है—छह द्रव्य का नाम है जगत। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, पुद्‌गल, जीव—ये पांच अस्तिकाय और एक काल—ये छह द्रव्य हैं। इनका नाम है जगत। हम जो देख रहे हैं, वह इनका विस्तार है। इनमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश—ये तीन हमें दिखाई नहीं देते। जगत का मतलब यह नहीं कि जो दिखाई देता है, वह जगत है। न दिखाई देने वाला भी जगत है। जीव और पुद्‌गल—ये दोनों एक साथ जुड़े हुए हैं, मिले हुए हैं, इसलिए हमें दिखाई दे रहे हैं। जीव भी दिखाई देता है और पुद्‌गल भी दिखाई देता है। जीव का मूल रूप हमें दिखाई नहीं देता और पुद्‌गल का भी मूल रूप हमें नहीं दिखाई देता। पुद्‌गल का मूल रूप है—परमाणु। परमाणु हमें दिखाई नहीं देता। क्योंकि वह इंद्रियों का विषय नहीं है। वह अतींद्रिय विषय है, सूक्ष्म है। आत्मा का शुद्ध रूप अमूर्त है। वह हमें दिखाई नहीं देता। हम क्या हैं? हमारा व्यक्तित्व क्या है? इस जगत में जो है, वह है पुद्‌गल के साथ समझौता किया हुआ हमारा व्यक्तित्व। हम न तो आत्मा हैं और न पुद्‌गल। दोनों नहीं हैं। हम एक समझौतावादी व्यक्तित्व हैं। यह है हमारी परिभाषा।

जैन दर्शन ईश्वरवादी है और नहीं भी है। जैन दर्शन परमात्मा को स्वीकार करता है। ऐसी शुद्ध आत्मा को स्वीकार करता है, जिसके साथ शरीर नहीं है—वह ईश्वर है। इस अर्थ में जैन दर्शन ईश्वरवादी है। किंतु, ईश्वर जगत का कर्ता है—इसे जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता। इस अर्थ में जैन दर्शन अनीश्वरवादी है। इस प्रकार जैन दर्शन ईश्वरवादी भी है और अनीश्वरवादी भी है—दोनों है।

हम ईश्वर भी हैं, अनीश्वरवादी भी हैं। इसलिए कि जो हमारा शरीर दिखाई दे रहा है, उस शरीर में आत्मा है और वह आत्मा ही है, जिसमें परमात्मा बनने की क्षमता है, योग्यता है—इसलिए हम स्वयं ईश्वर हैं। हमारे भीतर वह बीज है, जिसे बोया जाए, उर्वर भूमि हो और उचित वर्षा हो, सूर्य का प्रकाश हो, वायु अच्छी तरह मिले तो वह वटवृक्ष बन सकता है। हमारे भीतर चेतना का वह बीज है जो परमात्मा या ईश्वर बन सकता है। किंतु आज हम ईश्वर नहीं हैं। आज हम परमात्मा नहीं हैं। शुद्ध आत्मा भी नहीं हैं। हमारा मिला-जुला साम्राज्य है, मिला-जुला व्यक्तित्व है।

एक आदमी बोलता है। वह क्यों बोलता है? आत्मा बोलती है या पुद्‌गल बोलता है? पुद्‌गल कभी बोलता नहीं, आत्मा भी कभी बोलती नहीं। जब आत्मा और पुद्‌गल दोनों का योग होता है और एक प्राणशक्ति पैदा होती है—वह प्राणशक्ति बोलती है। एक आदमी सोचता है। आत्मा तो सोचती नहीं। आत्मा के मन नहीं होता। न पुद्‌गल सोचता है। जब आत्मा और शरीर दोनों मिलते हैं, प्राणशक्ति पैदा होती है—वह प्राणशक्ति सोचती है।

आत्मा खाती भी नहीं और पुद्‌गल भी नहीं खाता। आदमी खाता है। आदमी श्वास लेता है। आत्मा श्वास नहीं लेती, पुद्‌गल भी श्वास नहीं लेता। जब दोनों का योग होता है तो प्राणशक्ति के द्वारा श्वास लिया जाता है, भोजन किया जाता है। हमारा व्यक्तित्व है—जीव और पुद्‌गल दोनों का योग। हमारा व्यक्तित्व स्वतंत्र नहीं है।

इस दुनिया में हम अकेले नहीं हैं। बहुत बड़ा सूत्र है कि हम अकेले नहीं हैं। अचेतन भी हैं, चेतन भी हैं। हमारा प्रतिपक्षी तत्त्व है अचेतन—उसका भी अस्तित्व है और हमारा भी अस्तित्व है। जहां अस्तित्व का प्रश्न है, जैन दर्शन ने बताया कि चेतन और अचेतन में कोई भेद नहीं है। अस्तित्व की दृष्टि से चेतन और अचेतन दोनों समान हैं। भेद कहां होता है? व्यक्तित्व कहां बनता है? जहां एक द्रव्य है चेतन और दूसरा द्रव्य है अचेतन। जिसमें चेतना है, ज्ञान है, जानने की क्षमता है—वह है चेतन जीव। जिसमें चेतना नहीं है, जानने की योग्यता नहीं है—वह है अजीव।

वेदांत दर्शन केवल चेतन तत्त्व को मानता है, अचेतन को वास्तविक नहीं मानता। चार्वाक दर्शन अचेतन को वास्तविक मानता है, किंतु चेतन को वास्तविक नहीं मानता।

जैन दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। वह चेतन और अचेतन यानी जीव और पुद्‌गल—दोनों के अस्तित्व को स्वतंत्र मानता है, यथार्थ मानता है। जैन दर्शन यथार्थवादी दर्शन है। हम अकेले नहीं हैं। हमारा अस्तित्व है और उसके साथ-साथ अचेतन का भी अस्तित्व है। इसीलिए जैन दर्शन में चेतन के प्रति व्यवहार करने का विवेक दिया गया तो अचेतन के साथ में कैसा व्यवहार करना चाहिए—यह विवेक भी दिया गया है।

बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। जहां जीव-संयम है, तो साथ-साथ में अजीव-संयम भी है। एक आदमी जा रहा है। ईंट पड़ी है। ठोकर लगी। गुस्से में आया और ईंट को भी

तोड़ दिया। यह हिंसा है। आप कहेंगे कि ईंट में जीव तो है नहीं—हिंसा किसकी हुई? अरे, पुद्गल की भी हिंसा होती है। पुद्गल की भी अवज्ञा होती है, अपमान होता है। ईंट के प्रति गुस्सा निकाला, तो हिंसा हो गई। अजीव के प्रति भी हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिए? कपड़ा पहना हुआ है। गर्मी लगी। पसीना आया। कपड़े को ही फाड़ डाला। यह भी हिंसा है। अजीव के प्रति भी हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिए, यह जानना भी जरूरी है। क्योंकि अजीव का भी अस्तित्व है। आदमी जा रहा है। बालू का टीला आया। पैर से उसे रौंदा। यह भी हिंसा है। अजीव को भी इधर-उधर करने का अधिकार नहीं है। उसका अपना अस्तित्व है। हमारा अस्तित्व है तो उसका भी अपना अस्तित्व है। जैन दर्शन ने ऐसी व्यवस्था दी कि तुम अकेले नहीं हो, इसलिए तुम्हारा व्यवहार और आचरण भी संयत होना चाहिए।

जहां गांव है, गांव में हजारों घर हैं, वहां एक सामाजिक शिष्टता होती है, नागरिक चेतना होती है। नागरिक चेतना का अर्थ होता है कि एक घर अपने पड़ोसी घर के साथ कैसा व्यवहार करे? बहुत बार ऐसा होता है कि अपने घर से सफाई की, कचरा निकाला और वह दूसरे के घर के सामने डाल दिया। यह नागरिक शिष्टता का अतिक्रमण है। हम सब इस दुनिया में पड़ोसी हैं। इस जगत में चेतन अचेतन का पड़ोसी है और अचेतन चेतन का पड़ोसी। सारा एक कुटुंब, एक पड़ोस। सीमाएं कृत्रिम हैं। यह जोधपुर, यह उदयपुर, यह दिल्ली, यह कोलकाता, यह राजस्थान, यह पंजाब, यह हरियाणा—ये सारी सीमाएं कृत्रिम हैं, व्यावहारिक हैं। वास्तविक नहीं हैं। न जाने कितनी बार मनुष्य ने इन सीमाओं को बदला है। कितनी बार बनाया है। जो किया हुआ होता है, उसका यह स्वभाव होता है कि कितनी ही बार बनता है, कितनी ही बार बिगड़ता है। कभी किया जाता है, कभी मिटाया जाता है। जैसे ये सारे बच्चे के खेल हों। बच्चा खेल खेलता है, कभी कुछ बना देता है, कभी कुछ बिगाड़ देता है।

आज का हिंदुस्तान कभी बृहत् भारत रहा। आज छोटा-सा भारत बन गया। हजारों वर्षों में न जाने कौन देश कितना बना है और कितना बिगड़ा है। यह सारा परिवर्तन होता है, इसलिए कि स्वाभाविक नहीं है। स्वाभाविक यह है कि एक जगत और उस जगत में रहने वाले मूल तत्त्व—सब पड़ोसी हैं। एक-दूसरे से मिले-जुले हैं और एक साथ रह रहे हैं। यह मेरी अंगुली है। इस अंगुली में आपको क्या दीखता है? आपको कोरी अंगुली दिखाई पड़ रही होगी। क्या यहां धर्मास्तिकाय नहीं है? अवश्य है। क्या अधर्मास्तिकाय इस अंगुली में नहीं है? वह भी है। यानी गतितत्त्व भी है और स्थितितत्त्व भी है। क्या अवकाश अंगुली में नहीं है? वह भी है। क्या यहां काल नहीं है? अवश्य है। क्या पुद्गल नहीं है? पुद्गल भी है। क्या चेतना नहीं है? वह भी है। सब एक साथ रह रहे हैं। एक ही आकाश में सारे तत्त्व समाए हुए हैं और साथ-साथ रह रहे हैं। न कोई किसी को मार रहा है, न कोई किसी को काट रहा है और न कोई किसी का विरोध कर रहा है। सब एक साथ रह रहे हैं।

जैन दर्शन ने इस द्वैतवाद की स्थापना कर एक ऐसे सिद्धांत का प्रतिपादन किया, जिसके आधार पर आज अहिंसा और मैत्री के सिद्धांत का विकास हुआ। अहिंसा और मैत्री का सिद्धांत कहां से आया? यह साहचर्य से आया। सब द्रव्य एक साथ रहते हैं। कहीं कोई विरोध की भावना नहीं, विरोध की बात नहीं। कोई टकराव नहीं। एक साथ रहना और अपने-अपने अस्तित्व को स्वतंत्र बनाए रखना।

अहिंसा का यह अर्थ नहीं कि हम अपने अस्तित्व को समाप्त कर दें। अपना अस्तित्व स्वतंत्र रहे, एक साथ रहे। स्वतंत्रता और सह-अस्तित्व दोनों का इतना सुंदर प्रतिपादन हुआ है कि तुम स्वतंत्र भी हो और सह-अस्तित्व वाले भी हो। अकेला कोई रह ही नहीं सकता। अगर कोई आदमी यह चाहे कि मैं अकेला रहूं, कभी संभव नहीं है। इस दुनिया में अकेला कोई रह नहीं सकता। आकाश को छोड़ा नहीं जा सकता। गतितत्त्व और स्थितितत्त्व को छोड़ा नहीं जा सकता। परमाणुओं, काल और देश का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। फिर आदमी अकेला रहेगा कहां? यह अकेलेपन की कल्पना स्थूल कल्पना है, सापेक्ष कल्पना है। अकेला कोई भी हो नहीं सकता। हर आदमी एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है, संबंध किए हुए है।

यह जैन दर्शन का जगत, जिसमें सह-अस्तित्व है, जिसमें भाईचारा है, जिसमें स्वतंत्रता है—इसमें हम हैं। हम केवल पुद्गल के साथ ही नहीं हैं, जीवों के साथ भी हैं। जिस जगत में हम हैं, उसमें हमारे और भी बहुत-से भाई हैं। एक पृथ्वी का जीव, मिट्टी में पैदा होने वाला जीव, एक पानी में पैदा होने वाला जीव, एक अग्नि में पैदा होने वाला जीव, एक वायु में पैदा होने वाला जीव, एक वनस्पति में पैदा होने वाला जीव और एक त्रस में पैदा होने वाला जीव। एक आदमी इन सारे जीवों के साथ जी रहा है। हम अकेले नहीं हैं। कितना बड़ा है हमारा परिवार। मूल जगत तो हमारा बहुत छोटा है। द्रव्य बहुत छोटा है, किंतु उसका परिवार बहुत लंबा है। विस्तार को हम देखें तो पता ही नहीं चल

सकता। बड़ा विचित्र-सा लगता है। जगत का मूल भाग बहुत छोटा और उत्तर भाग बहुत बड़ा होता है। ग्रंथ छोटा और परिशिष्ट तथा भूमिका बड़ी। ऐसा होता है। वही बात हो गई, सूत्र का यही तो मतलब है, सूत्र बहुत छोटा और अर्थ बहुत बड़ा।

एक जैन आचार्य ने एक ग्रंथ की रचना की, उसका नाम है—अष्टलक्षार्थी। केवल आठ अक्षर हैं। 'राजा नो ददते सौख्यम्'—अनुष्टुप् श्लोक का सिर्फ एक चरण। इन आठ अक्षरों के अर्थ हैं—आठ लाख। अक्षर थोड़े और अर्थ इतने अधिक। एक-एक अक्षर का एक-एक लाख अर्थ। हमारे जगत की ठीक यही स्थिति है। मूल तत्त्व हैं पांच और उनका विस्तार इतना कि एक बड़ा जगत बन गया।

उस जगत में हम लोग रह रहे हैं। हम अपने अस्तित्व को समझें कि हम किसी की सृष्टि नहीं हैं, किसी की रचना नहीं हैं। हमारा स्वतंत्र अस्तित्व है। अनादि हैं, अनंत हैं। न तो कभी हमारा अस्तित्व बना और न कभी समाप्त होने वाला है। सारे जगत के संदर्भ में व्यक्ति को, अपने-आप को पहचानना है। जब तक जगत को नहीं समझा जा सकता तब तक व्यक्ति को पहचाना नहीं जा सकता। सारा प्रयत्न सिर्फ अपने-आप को जानने के लिए हो रहा है। गाय रखना, उसका दूध निकालना, दूध को गरम करना, ठंडा करना, जामण देना, दही बनाना, बिलौना करना—सारा किसलिए? मक्खन के लिए सारा किया जाता है। सारे जगत को समझना, जगत की व्याख्या करना, उसके बारे में चिंतन करना, यह सारा किसलिए? एक अपने-आप को समझने के लिए कि मैं कौन हूं, कहां से आया हूं, अस्तित्व कब से है, कब तक रहेगा, अपने बारे में पूरी जानकारी करने के लिए सारे जगत का बिलौना करना पड़ता है। तब कहीं जाकर मक्खन निकलता है। ऐसे ही मक्खन नहीं निकल जाता। बहुत झंझट करना पड़ता है। अपने-आप को जानने के लिए हमारा यह सारा प्रयत्न है। हम स्वयं अपनी पहचान करें कि हम क्या हैं? हम चेतन हैं। हमारी चेतना स्वतंत्र है। किसी की कृति नहीं है। हम ज्ञाता हैं। हमारे भीतर ज्ञान है, जानने की शक्ति है। हमारे भीतर विवेक है, भेद करने की शक्ति है। हम जिस शक्ति के साथ रह रहे हैं, उसका भी भेद करना जानते हैं। जो यह शरीर है, मैं नहीं हूं। मैं अलग हूं, यह शरीर अलग है। अपनी सारी पहचान इस जगत के संदर्भ में होती है। इसलिए हमें जगत को जानना भी जरूरी है, अपने-आप को भी जानना जरूरी है। जगत को जाने बिना अपने-आप को नहीं जाना जा सकता और अपने-आप को जाने बिना जगत को भी नहीं जाना जा सकता। जगत को जानें, जगत के स्वभाव को जानें और जगत में हमारा स्थान क्या है—इसे भी जानें, हमारा स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसलिए कि अचेतन तत्त्व में शक्ति तो है पर चेतना नहीं, ज्ञान की क्षमता नहीं। हमारा अस्तित्व वह है, जिसमें चैतन्य भी है, शक्ति भी है और आनंद भी है। ये तीनों बातें हैं।

जैन दर्शन के अनुसार प्रज्ञा दो प्रकार की होती है। एक ज्ञ-प्रज्ञा और दूसरी प्रत्याख्यान-प्रज्ञा। पहले जानो, फिर व्यवहार करो। यानी जो छोड़ने का है, उसे छोड़ दो। जो ग्रहण करने का है, उसे ग्रहण करो। जिसकी उपेक्षा करनी है, उसकी उपेक्षा करो। यह व्यवहार करो। यह है हमारी प्रत्याख्यान-प्रज्ञा। पहले ज्ञान करें। ज्ञ-प्रज्ञा का प्रयोग करें और फिर प्रत्याख्यान-प्रज्ञा का प्रयोग करें।

इस उभयमुखी प्रवृत्ति के द्वारा हम उस बिंदु पर पहुंच सकते हैं, जहां हम स्वयं परमात्मा और ईश्वर की अवस्था को उपलब्ध होंगे। ईश्वर हमसे भिन्न नहीं है। परमात्मा हमसे भिन्न नहीं है। हमारे भीतर हमारा ईश्वर विद्यमान है। हमारे भीतर हमारा परमात्मा विद्यमान है। हम ऐसा पुरुषार्थ करें, जिससे हमारा प्रभु, हमारा ईश्वर, हमारा परमात्मा प्रकट हो जाए और हम स्वयं सत-चित-आनंदमय अपने अस्तित्व को प्राप्त करलें। ❖

बालक को अपने-आप प्रयत्न करके अपनी अपूर्णता को पूर्ण कर लेने दो। अगर बालक को ऐसा करने की छूट होगी, टोका-टोकी नहीं की जाएगी, उसमें अविश्वास न होगा, तो भले ही उसे हजार बार दोहराना पड़े, पर वह पूर्णता प्राप्त करेगा ही करेगा। पूर्णता प्राप्त करना व्यक्ति का स्वभाव है। अगर इस तथ्य में हमारा विश्वास है तो बालक को भूल करने को मुक्त छोड़ा जा सकता है।

इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि पूर्ण क्या है, अपूर्ण क्या है, भूल-रहित क्या होता है—ये बातें बालक को बताई ही न जाएं। हम उनके सामने अच्छा आदर्श रखें, पर गलती न निकालें। गलती निकालने का अर्थ यह है कि हम बालक को हलका और अज्ञानी मानते हैं। गलती निकालने का हमारा कारण यह है कि हम उस गलती को सहन नहीं कर पाते। इसमें हमारे अपने धैर्य की कमी है। गलती निकालने से बालक में अपने प्रति अविश्वास और हमारे प्रति क्रोध पैदा होता है। जहां कहीं भी गलती निकालकर उपदेश दिया जाता है वहां यही होता है।

—गिजुभाई

पाप-पुण्य : वैदिक-अवैदिक विवेचन

✍ संतोष आचार्य ✍

भारतीय समाज व व्यक्ति के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो पाएंगे कि सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति का कर्म पाप-पुण्य की अवधारणा के साथ ही प्रारंभ होता है। कोई मनुष्य उच्च कोटि की दार्शनिक विचारधारा वाला हो चाहे कोई साधारण मनुष्य या निरक्षर व्यक्ति, सभी किसी-न-किसी रूप में पाप-पुण्य की अवधारणा को न केवल स्वीकार करते हैं, अपितु उसी के अनुरूप अपने आचार-व्यवहार को निर्धारित भी करते हैं। यद्यपि पाप-पुण्य के संबंध में शास्त्रों में उल्लिखित विचारों का साधारण भारतीय को भले ही ज्ञान न हो, परंतु इस दृष्टि से दोनों में मूल रूप से अधिक अंतर नहीं है। दोनों ही पाप और पुण्य को मूलतः मनुष्य के स्वयं के कर्मों का ही फल मानते हैं। दोनों के अनुसार जो कर्म नियम के प्रतिकूल है, वह पाप है और जो अनुकूल है, वह पुण्य है।

व्यक्ति के कर्म करने से पूर्व उसके अस्तित्व में उस कर्म से संबंधित पाप और पुण्य का विचार-विमर्श चलता है और उसके पश्चात् ही वह व्यक्ति निर्णय लेने में समर्थ होता है कि अमुक कर्म करे या न करे। अतः पाप-पुण्य की धारणा व्यक्ति के कर्मों की निर्णायक कही जा सकती है। इस निर्णायक शक्ति के आधार पर ही व्यक्ति यह निष्कर्ष निकालने में समर्थ होता है कि अमुक कर्म पाप है, इसलिए त्याज्य है और अमुक कर्म पुण्य है, इसलिए करणीय है। इस प्रकार पाप-पुण्य की यह धारणा न केवल दर्शन अथवा नीति के क्षेत्र में ही प्रचलित है, अपितु सामान्य जन-मानस के मध्य भी अत्यंत गहरे तक पैठी हुई है।

व्यक्ति के कर्म करने से पूर्व उसके अस्तित्व में उस कर्म से संबंधित पाप और पुण्य का विचार-विमर्श चलता है और उसके पश्चात् ही वह व्यक्ति निर्णय लेने में समर्थ होता है कि अमुक कर्म करे या न करे। अतः पाप-पुण्य की धारणा व्यक्ति के कर्मों की निर्णायक कही जा सकती है। इस निर्णायक शक्ति के आधार पर ही व्यक्ति यह निष्कर्ष निकालने में समर्थ होता है कि अमुक कर्म पाप है, इसलिए त्याज्य है और अमुक कर्म पुण्य है, इसलिए करणीय है। इस प्रकार पाप-पुण्य की यह धारणा न केवल दर्शन अथवा नीति के क्षेत्र में ही प्रचलित है, अपितु सामान्य जन-मानस के मध्य भी अत्यंत गहरे तक पैठी हुई है।

भारतीय दर्शन व संस्कृति का उद्‌गम-स्रोत सामान्यतः वेदों को माना गया है। पाप-पुण्य की अवधारणा का प्रारंभिक उन्मेष भी वैदिक काल में देखा जा सकता है। वैदिक काल में पातक या पाप के संदर्भ में ऋषियों के ये शब्द थे—'आगस्, एनस्, अघ, दुरित, दुष्कृत, द्रुग्ध, अंहस्।' अत्यधिक प्रयुक्त शब्द हैं 'आगस्' एवं 'एनस्' जिनको अत्यंत गंभीर एवं नैतिक अर्थ में लिखा गया है।[1] इस प्रकार पाप शब्द के लिए वेदों में अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। पाप कितने हो सकते हैं? इस प्रश्न के समाधान के लिए भी बहुत प्राचीन काल से ही दुष्कृत्यों की गणना एवं उनकी कोटियों का जो निर्धारण होता आया है—देखा जा सकता है। 'ऋग्वेद में आया है कि कवियों (बुद्धिमानों या विद्वानों) ने सात मर्यादाएं बनाई हैं। वह मनुष्य, जो इनमें से किसी का भी अतिक्रमण करता है, पापी हो जाता है।'[2] निरुक्त के मंत्र में निर्देशित सात पापों को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—'स्तेय (चोरी), तल्पारोहण (गुरु की शय्या को अपवित्र करना), ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापान, एक ही दुष्कृत्य को बारंबार करना एवं अनृतोद्य (किसी पापमय कृत्य के विषय में झूठ बोलना)।'[3]

यहां स्पष्ट रूप से वैदिक काल में विहित विभिन्न प्रकार के पापों का उल्लेख हुआ है। वैदिक संदर्भ में हम अब यह देखें कि कृत्य क्या है? यह किस प्रकार होता है या पाप-पुण्य की अवधारणा का नियामक कौन है? इस विषय के समाधान के लिए वेदों में वरुण को नीति का अधिष्ठाता मानते हुए कहा गया है कि 'वरुण की इच्छा की अभिव्यक्ति ही व्रत, धर्म, ऋत, दक्ष, यज्ञ आदि है और उनका अतिक्रमण ही अपराध अथवा पाप है।'[4] इस प्रकार वेदों में वरुण देव की इच्छा का

अनादर करना पाप माना गया है और वरुण देव को ही पाप-पुण्य की नैतिक धारणा का स्वामी माना गया है।

इसी क्रम में उपनिषदों में भी इस धारणा के संदर्भ में काफी विचार-विमर्श किया गया है। वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है—'जैसा कर्म करने वाला, जैसा आचरण करने वाला मनुष्य होता है, वह वैसा ही बन जाता है। अच्छे कर्म करने वाला अच्छा होता है। पापकर्म करने वाला पापी हो जाता है। पुण्यकर्म करने वाला पुण्यात्मा होता है। मनुष्य काममय है, अर्थात् इच्छाओं से ही बना है। जैसी उसकी इच्छाएं होती हैं, वैसे ही उसके संकल्प हो जाते हैं। जैसे उसके संकल्प होते हैं, वैसे ही वह कर्म करता है और वह जैसे कर्म करता है, वैसा ही वह हो जाता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि शुभ संकल्प करे।'[5] अतः उपनिषदीय दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि न तो पुण्य जन्मजात गुण है और न कोई मनुष्य जन्म से ही पापी होता है। कर्तव्य-पालन से ही पुण्य अर्जित किया जा सकता है और उससे विमुख होने पर व्यक्ति पाप का भागी होता है। इस प्रकार व्यक्ति स्वयं के प्रयत्नों से पाप से बच सकता है और पुण्यमार्ग पर चल सकता है। अतएव वृहदारण्यक उपनिषद के उपरोक्त अवतरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पाप-पुण्य केवल बाहरी कर्म ही नहीं हैं; उनकी जड़ मन की वासनाओं और संकल्पों में विद्यमान है। इसलिए कहा जाता है कि जैसी मति (इच्छा अथवा संकल्प), वैसी ही गति।

पाप कितने प्रकार के हो सकते हैं—इस पर भी उपनिषदों में विश्लेषण किया गया है। छांदोग्य उपनिषद में पाप के पांच प्रकार बताए गए हैं—'सोने को चुराने वाला, शराब पीने वाला, गुरु-तल्प-गामी, ब्रह्मज्ञानी को मारने वाला—ये चारों पतित हो जाते हैं, और पांचवां वह जो इनके साथ किसी भी प्रकार का संबंध रखता है।' (छा. उप. 5/10/9)। इसी प्रकार उपनिषदों के समान ही गीता के 16वें अध्याय में भी आसुरी स्वभाव के जो गुण बतलाए गए हैं, वे पाप-कोटि में ही रखे जा सकते हैं। आसुरी स्वभाव वाले लोग न तो कर्म के मार्ग को जानते हैं और न त्याग के मार्ग को। उनमें न पवित्रता पाई जाती है, न सदाचार और न सत्य ही उनमें पाया जाता है। ये लोग स्वभाव से पाखंडी, घमंडी, अभिमानी, क्रोधी, कठोर और अज्ञानी होते हैं। गीता में बतलाए गए ये आसुरी स्वभाव के गुण पाप-कोटि में ही आते हैं और गीता के अनुसार आसुरी संपदा बंधन में डालने वाली है।

इस प्रकार गीता व उपनिषद में बताए गए पाप के विभिन्न प्रकारों के विवेचन के बाद अब मुख्य प्रश्न यह उठता है कि पाप और पुण्य का परिणाम क्या हो सकता है?

मनुष्य द्वारा किए गए पाप और उसके परिणाम के संदर्भ में भी उपनिषद में विवेचन मिलता है। वहां पापात्मा के विषय में वृहदारण्यक, ईश, कठ आदि उपनिषदों में अनेक अवतरण हैं जो हमें बतलाते हैं कि उपनिषदकारों का यह विश्वास था कि पापात्मा को अपने पापकर्मों के परिणाम-स्वरूप आनंदरहित, आसुरिक तथा अंध-तमिस्र लोकों में जाना पड़ता है। जैसा कि वृहदारण्यक उपनिषद का कथन है कि—'वे लोक आनंद से रहित हैं तथा अंधतमस से परावृत हैं, जहां अज्ञानी तथा मूढ़ मनुष्य मृत्यु के उपरांत जाते हैं।'[6]

इसी प्रकार पुण्यात्मा की गति का विवेचन भी उपनिषदों में मिलता है। वहां बताया गया है कि 'पुण्य कर्मों के परिणामस्वरूप पुण्यात्मा स्वर्गलोक में पहुंचते हैं, और मुक्त होकर उससे भी ऊपर उठ जाते हैं अर्थात् ब्रह्मज्ञानी, पुण्यकर्मी और तेजस्वी व्यक्ति पुण्यकर्मों के परिणामस्वरूप ब्रह्मलोक को पहुंच जाता है।'[7] इस प्रकार उपरोक्त विवेचन में उपनिषदों की पाप-पुण्य की अवधारणा के साथ-साथ उसके परिणामस्वरूप उपलब्ध होने वाले लोक अर्थात् स्वर्ग-नरक की अवधारणा का भी संकेतात्मक विवेचन मिलता है। कहा जा सकता है कि सामान्यतः स्वर्ग-नरक की जो कल्पना की जाती है—वह निराधार नहीं है, बल्कि इसका मूल हमें उपनिषदों में भी उपलब्ध होता है।

पाप-पुण्य की इस कसौटी के संदर्भ में एक बात उल्लेखनीय है कि उपनिषदों में पाप-पुण्य का केवल सैद्धांतिक विवेचन ही नहीं किया गया है, बल्कि पापकर्मों से मुक्त होने का उल्लेख भी उपनिषदों में किया गया है। उपनिषदानुसार मनुष्य अज्ञान के वशीभूत होकर पापकर्म करता है और जब उसे ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो वह पापकर्म नहीं करता, जिससे उसके आगे के कर्म शुभ होते हैं। उपनिषदों में ज्ञान से तात्पर्य आत्मा के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान से है। वास्तव में यह आत्मा पूर्ण एवं सर्वोपरि सत्ता है, लेकिन जीवात्मा अपने अहंभाव के कारण पूर्ण एवं सर्वोपरि सत्ता का निषेध करता है और अपनी सर्वांगपूर्णता की घोषणा करता है—यही उसका अज्ञान है और इस प्रकार अज्ञानवश या अहं द्वारा पूर्ण सर्वश्रेष्ठता का आरोपण करना पाप है।

इसके विपरीत जब जीवात्मा को यह ज्ञान हो जाता है कि वह आत्मा से भिन्न नहीं अभिन्न है, तब वह सब पापों से मुक्त हो जाती है। इसीलिए उपनिषदों का मत है कि जो आत्मा के वास्तविक रहस्य को जान जाता है, वह पापकर्मों से तर जाता है। कहा भी गया है 'तरति शोकम्

आत्मवित्' जो आत्मा को जान जाता है वह दुख-सागर को तर जाता है।'[8]

मनुष्य द्वारा कृत पापकर्मों से मुक्त होने के संदर्भ में श्वेताश्वतर उपनिषद में भी उल्लेख मिलता है। वहां जीवात्मा द्वारा कृत पाप को काटने के लिए उसे ईश्वरोपासना का उपदेश देते हुए कहा गया है—'वह धर्म को प्राप्त कराने वाला और पाप को काटने वाला है, भाग्य का वही स्वामी है। विश्व के धाम उस अमृतस्वरूप भगवान को आत्मा में स्थित जानकर उसकी उपासना करनी चाहिए।'[9]

पापकर्मों से मुक्ति के संदर्भ में अभी तक हमने केवल उपनिषदीय मत की विवेचना की है। उपनिषदों के अतिरिक्त नीति से संबंधित अन्य ग्रंथों में भी इस संदर्भ में उल्लेख मिलते हैं, जैसे—मनुस्मृति, गीता, महाभारत आदि। उपनिषदों के समान इन शास्त्रों का भी मत है कि मनुष्य अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान है, अतः उससे पाप हो ही जाता है और मनुष्य के इन पापों से मुक्त होने के लिए इन शास्त्रों में उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है। इस संबंध में मनुस्मृति की मान्यता है कि अनिच्छा से किए गए पापकर्म वेदाभ्यास द्वारा नष्ट होते हैं। किंतु इच्छा से किए गए पापों के लिए विभिन्न प्रकार से प्रायश्चित्त करने का विधान है। इसी प्रकार मनुस्मृति में यह उल्लेख भी मिलता है कि तप करने वाले लोग अपने उन सब पापों को, जो मन, वचन और कर्म से होते हैं, तप द्वारा नष्ट कर डालते हैं।[10] श्रीमद्भगवद्गीता में भी इसी मत का समर्थन मिलता है कि 'यदि वह पाप करने के पश्चात् पश्चात्ताप करता है, तो पाप से मुक्त हो जाता है। यदि वह यह संकल्प करता है कि वह फिर कभी पाप नहीं करेगा, तो वह पवित्र हो जाता है।'[11]

पाप और पुण्य से संबंधित एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत पापपुण्यातीतवाद को स्पष्ट करना भी प्रासंगिक होगा। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि उपनिषदों की यह मान्यता है कि व्यक्ति को पापकर्मों से मुक्त होना चाहिए और पुण्यकर्मों में लीन होना चाहिए। क्योंकि पापकर्मों से मनुष्य का नैतिक पतन होता है और पुण्यकर्मों से उसका नैतिक उत्थान। लेकिन उपनिषदों की पाप-पुण्य से संबंधित यह मान्यता उपनिषदों में वर्णित व्यावहारिक स्तर तक ही लागू होती है। इस व्यावहारिक स्तर से परे उपनिषदों में पारमार्थिक स्तर की बात कही गई है, जहां जाकर जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप ब्रह्म में लीन हो जाती है—जैसे वर्षा की एक बूंद समुद्र में जाकर लीन हो जाती है। यह अवस्था उपनिषदों के अनुसार पाप और पुण्य, शुभ और अशुभ, अच्छे और बुरे, नीति और अनीति से परे की अवस्था है। इसलिए इसे 'अतिनीतिवाद' या 'अतीतवाद' या 'पापपुण्यातीतवाद' की अवस्था कहते हैं। यहां यह स्पष्ट करना प्रासंगिक होगा कि उपनिषदों के समान ब्रैडले और नीत्शे भी इस सिद्धांत को मानते हैं, किंतु ब्रैडले और नीत्शे के अतीतवाद तथा उपनिषदों के अतिनीतिवाद में अंतर है। नीत्शे का अतिनीतिवाद केवल अतिमानुषिक व्यक्तियों के विषय में ही लागू होता है, जो एकांत शक्ति के अधिकारी होने के कारण नीति और अनीति का प्रतिरोध कर उनसे ऊपर उठ जाते हैं। इसी प्रकार ब्रैडले का अतिनीतिवाद केवल ब्रह्म के विषय में लागू होता है, जिसे उसकी एकांतता के कारण नीति और अनीति से परे समझना चाहिए। इसके विपरीत उपनिषदों का अतिनीतिवाद आत्मा और ब्रह्म—दोनों के विषय में लागू होता है। लेकिन यहां भी दो बातें हैं—ब्रह्म के विषय में तो अतिनीतिवाद का यह सिद्धांत हमेशा ही लागू होता है, लेकिन आत्मा के विषय में केवल वहां तक, जहां तक आत्मा ने अपने में ब्रह्म का अनुभव किया है। अर्थात् जब तक अज्ञानवश जीवात्मा को 'अहंब्रह्मास्मि' की अनुभूति नहीं होती, तब तक उसके लिए अनीतिवाद का सिद्धांत लागू नहीं होता क्योंकि तब तक वह व्यावहारिक स्तर पर होती है—जहां वह नैतिकता व अनैतिकता अथवा पाप और पुण्य के दायरे में रहती है। जब उसे अपने यथार्थ स्वरूप ब्रह्म की अनुभूति हो जाती है या ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाता है तो वह ब्रह्मानंद में लीन हो जाती है और तब वह पाप और पुण्य से परे की अवस्था में पहुंच जाती है। वृहदारण्यक उपनिषद का कथन है कि जब जीवात्मा अपने यथार्थ स्वरूप को जान जाती है या ब्रह्म-साक्षात्कार कर लेती है तो उसकी समझ में यह बात आ जाती है कि वास्तव में आत्मा 'बंधनरहित है, व्यथारहित है, नाशरहित है। मैंने इस कारण पापकर्म किया या इस कारण कल्याण-कर्म किया—ये दोनों विचार उसका वार-पार नहीं पाते, क्योंकि वह इन दोनों से तर जाता है; उसने जो-कुछ किया है, जो-कुछ नहीं किया, इन कृत-अकृत का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि मूलतः वह पाप-पुण्य से अलग है या पाप-पुण्य से परे पहुंच जाता है। अर्थात् अब जीवात्मा को पाप नहीं तर सकता, यह सब पापों से तर जाता है। ब्रह्मज्ञानी पापरहित, मलरहित, संशयरहित हो जाता है।'[12]

उपनिषदों के समान श्रीमद्भगवद्गीता की भी यही मान्यता है कि 'जिस व्यक्ति ने अपनी बुद्धि को ब्रह्म के

साथ जोड़ दिया है, वह अच्छे और बुरे—दोनों प्रकार के कर्मों को यहीं छोड़ जाता है। वह नैतिक स्तर—जिसमें अच्छे और बुरे का भेद रहता है—से ऊपर उठ जाता है।' इस प्रकार अतिनीतिवाद या पाप-पुण्यातीतवाद की अवस्था में व्यक्ति के पापकर्मों के साथ-साथ पुण्यकर्मों का भी अस्तित्व नहीं रहता।

उपरोक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि व्यक्ति द्वारा किए गए पापकर्मों के साथ-साथ उसके द्वारा किए गए पुण्यकर्म भी उसके बंधन-हेतु होते हैं, अर्थात् पाप और पुण्य—दोनों प्रकार के कर्मों के कारण व्यक्ति सांसारिक आवागमन में फंसता है। क्योंकि दोनों ही सकाम भावना से प्रेरित होकर किए जाते हैं।

अभी तक हमने वेद, उपनिषद और गीता अर्थात् वैदिक विचारधारा में पाप-पुण्य का विवेचन किया है। अब पाप-पुण्य की इस कसौटी को अवैदिक संदर्भ में रखना प्रासंगिक होगा। अवैदिक परंपरा में चार्वाक, जैन और बौद्ध के विचारों को सम्मिलित किया गया है। लेकिन जैसा कि सर्वविदित है कि चार्वाक दर्शन भारतीय दर्शन में कट्टर भौतिकवाद का समर्थक है। इस दर्शन में किसी भी नैतिक प्रत्यय के अनुसरण का उपदेश नहीं है।

अवैदिक दर्शनों के अंतर्गत जैन व बौद्ध विचारधारा में इस संदर्भ में पर्याप्त विश्लेषण किया गया है। यहां यह बताना प्रासंगिक होगा कि यद्यपि जैन व बौद्ध भी अवैदिकता, अनीश्वरवाद, नास्तिकता का समर्थन करते हैं, तथापि ये पूर्णतः उच्छेदवादी नहीं हैं, अपितु सुधारवादी हैं। इसका प्रमाण यह है कि जैन व बौद्ध—दोनों की नीति-मीमांसा की प्रासंगिकता आज भी है। इसी संदर्भ में इन्होंने पाप व पुण्य जैसे नैतिक संप्रत्ययों का भी समर्थन किया है।

पाप-पुण्य के संदर्भ में बौद्ध दर्शन का भी विश्वास है कि अपने पापकर्म के फल से कोई बच नहीं सकता। न आकाश में, न समुद्र में, न पर्वतों में, न कंदराओं में। जगत में ऐसी कोई जगह नहीं है जहां रहकर मनुष्य पापकर्मों के फल से मुक्त हो सके। पाप करने वाला पापात्मा पुरुष इस लोक में भी अपने पापकर्म-जन्य संताप से संतप्त रहता है और परलोक में भी वह इसी प्रकार पीड़ित रहता है। इसी प्रकार पुण्यात्मा पुरुष को इस लोक तथा परलोक—दोनों में आनंद की प्राप्ति होती है। पापकर्मों के फलित होने में लगने वाले समय के संबंध में बौद्ध धर्म का मानना है कि 'जिस प्रकार ताजा क्षीर (दूध) शीघ्र नहीं जम जाता है उसी प्रकार पापकर्म का फल भी शीघ्र ही नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि पापकर्म भस्म से ढकी हुई आग के समान उस मूर्ख व्यक्ति को दहन करता हुआ (विपाककाल-पर्यंत) उसका पीछा करता ही रहता है।'[13]

अब यदि जैन विचारधारा में पाप और पुण्य की कसौटी को देखा जाए तो यह स्पष्ट होता है कि जैन विचारधारा के अनुसार जो आत्मा को बंधन में डाले, जिसके कारण जीवात्मा के आत्म-विकास का पतन हो, जो आत्मा के आनंद का शोषण करे और आत्म-शक्तियों का क्षय करे—वह पाप है। इसके विपरीत पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है, अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है। इस प्रकार आध्यात्मिक साधना में पुण्य सहायक माना जाता है।

पुण्य की व्याख्या करते हुए जैनाचार्य हेमचंद्र कहते हैं कि 'पुण्य अशुभ कर्मों का लाघव और शुभ कर्मों का उदय है।' जैन दर्शन की मान्यता है कि व्यक्ति द्वारा किए गए शुभाशुभ कर्मों के परिणामस्वरूप कर्म पुद्गल आत्मा की ओर क्रिया करते हैं, क्रिया शुभ होती है तो पुण्यकर्म-परमाणु और अशुभ होती है तो पापकर्म-परमाणु आत्मा से आ चिपकते हैं।

इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि कर्ता के अभिप्राय को शुभाशुभता के निर्णय का आधार मानें या कर्म के समाज पर होने वाले परिणाम को—यह एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न है। शुभ-अशुभ कर्म का मुख्य आधार मनोवृत्तियों को माना गया है। एक डॉक्टर किसी को पीड़ा पहुंचाने के लिए उसका व्रण चीरता है तो चाहे उससे रोगी को लाभ ही हो, फिर भी डॉक्टर पापकर्म के बंध का भागी होगा। इसके विपरीत यदि वह करुणा-प्रेरित होकर व्रण चीरता है और उससे कदाचित् रोगी की मृत्यु हो जाती है, तो भी डॉक्टर अपनी शुभ भावना के कारण पुण्य का बंध करता है।

जैन दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण मान्यता है—'कर्मणा बध्यते जंतु', तथापि यह भी माना जाता है कि सभी प्रकार के कर्म समान रूप से बंधनकारी नहीं होते। अर्थात् मनुष्य के कुछ कर्म नैतिकता की कसौटी पर कसे जा सकते हैं, जबकि कुछ कर्म नैतिकता के क्षेत्र से परे होते हैं—जिन्हें अतिनैतिक कहा जाता है। लेकिन नैतिकता के क्षेत्र में आने वाले सभी कर्म भी एक समान नहीं होते हैं। उनको शुभ-अशुभ की श्रेणियों में बांटा जा सकता है। जिन्हें जैन परिभाषा के अनुसार क्रमशः पुण्यकर्म और पापकर्म कहा जाता है। इस प्रकार जैन दर्शन तीन प्रकार के कर्म मानता

है। 'पुण्यकर्म, पापकर्म और अकर्म (जिन्हें ईर्यापथिक कर्म भी) कहा जाता है।' बौद्ध दर्शन में भी तीन प्रकार के कर्म माने गए हैं—अव्यक्त अथवा अकृष्ण-अशुक्ल कर्म, शुक्ल या कुशल कर्म और कृष्ण या अकुशल कर्म। इन्हीं को गीता में क्रमशः अकर्म, कर्म और विकर्म की संज्ञा दी गई है, तो पाश्चात्य नीतिदर्शन में इन्हें अतिनैतिक, नैतिक, अनैतिक कर्म की श्रेणी में बांटा जाता है।

यद्यपि नाम सभी जगह भिन्न-भिन्न प्रयुक्त हुए हैं, तथापि मूलरूप से उनका अर्थ एक ही है। अतिनैतिक, अकर्म, ईर्यापथिक कर्म या अव्यक्त कर्म नैतिकता से परे माने जाते हैं। शेष दो प्रकार के कर्म ही नैतिकता के क्षेत्र में विश्लेषणीय हैं और उन्हीं कर्मों के फल पाप अथवा पुण्य होते हैं।

जैन विचारकों के अनुसार पाप व पुण्य—दोनों के साथ ही राग तो जुड़ा ही रहता है। यदि राग नहीं होगा तो मानवीय कर्म शुभाशुभ से परे अर्थात् शुद्ध या अतिनैतिक कर्म होगा। यहां यह पूर्णतया स्पष्ट है कि पापकर्मों के साथ-साथ पुण्यकर्मों के साथ भी राग जुड़ा होता है। इसलिए जैन विचारक योगिन्दू का कहना है कि—'पुण्य से वैभव, वैभव से अहंकार, अहंकार से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से पाप होता है। इसलिए हमें वह नहीं करना चाहिए, अर्थात् पुण्य की इच्छा करने से पाप का बंध होता है। इसलिए वे पुण्य किस काम के, जो राज्य देकर जीव को दुख-परंपरा की ओर ढकेल दें। आत्म-दर्शन की खोज में लगा हुआ व्यक्ति मर जाए—यह अच्छा है, किंतु दर्शन से विमुख होकर पुण्य चाहे—वह अच्छा नहीं है।'[14] इसी कारण भगवान महावीर का कहना है कि—'पुण्य और पाप—इन दोनों के क्षय से मुक्ति मिलती है।'[15]

जैन विचारकों के ये वाक्य स्पष्ट रूप से पाप और पुण्य—दोनों से मुक्त होने का उपदेश देते हैं क्योंकि वस्तुतः दोनों ही बंधकारक हैं और दोनों ही आत्मा की परतंत्रता के हेतु हैं। इस संदर्भ में आचार्य भिक्षु की यह मान्यता सत्य प्रतीत होती है कि—

जिण पुण्य तणी करी, तिण वांच्छाया काम ने भोग।
संसार बंधे कामभोग स्यूं, पामै जन्म-मरण ने सोग।।

(नवपद चौपाई/60)

अर्थात् पुण्य से भोग मिलते हैं। जो पुण्य की इच्छा करता है, वह भोगों की इच्छा करता है। भोग की इच्छा से संसार बढ़ता है। दूसरे शब्दों में 'पुण्य की इच्छा करने से पाप का बंध होता है।'[16]

यहां जैन दर्शन की यह विचारधारा स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आती है कि पाप के साथ-साथ जीवात्मा को पुण्य में भी लिप्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि वस्तुतः 'स्वतंत्रता के इच्छुक मुमुक्षु के लिए ये दोनों हेय हैं। मोक्ष का हेतु रत्नत्रयी (सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-चारित्र) है। जो व्यक्ति इस तत्त्व को नहीं जानता वही पुण्य को उपादेय और पाप को हेय मानता है। निश्चय-दृष्टि से ये दोनों हेय हैं। आचार्यों ने पुण्यकर्म की सोने और पापकर्म की लोहे की बेड़ी से तुलना की है।'[17]

जैन दर्शन के उपरोक्त विचार स्पष्ट रूप से उपनिषदों के पापपुण्यातीतवाद के सिद्धांत के साथ साम्य रखते हैं।

भारतीय परंपरा के समान ही यहूदी-ईसाई धर्म परंपरा में भी पाप-पुण्य की उपरोक्त धारणा मान्य है। वहां माना जाता है कि 'ईश्वर ने जब प्रथम मानव की रचना की तो उसका स्वरूप बिल्कुल शुद्ध था। प्रथम मानव 'आदम' को ईश्वर ने पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की। प्रारंभ में आदम ने ईश्वर-प्रदत्त इच्छा-स्वातंत्र्य का दुरुपयोग नहीं किया और पापकर्मों से अपने को वंचित रखा। पर काल-क्रम में उसने विशुद्ध कर्मों (पापकर्मों) से अपने को अलग नहीं रखा, जिसका परिणाम हुआ कि आदम अपने ही पापों के कारण दुख भोगने लगा'। पाप-पुण्य की इस कसौटी के संदर्भ में निष्कर्षतः डॉ. राधाकृष्णन् सही प्रतीत होते हैं कि—'पाप एक निषेधात्मक वस्तु है, अपने अंदर परस्पर विरोधी एवं मृत्यु का सिद्धांत; पुण्य यथार्थ एवं विध्यर्थक वस्तु और जीवन का तत्त्व है।'[18]

पाप और पुण्य नैतिकता से संबंधित ऐसे प्रत्यय हैं जो अन्य नैतिक प्रत्ययों की बजाय साधारण भारतीय विचारधारा से अधिक निकट संबंध रखते हैं। उच्च कोटि के विद्वानों से लेकर साधारण मूढ़ व्यक्ति भी पाप-पुण्य के संदर्भ में अपना विशिष्ट मत रखते हैं, साथ ही वे अपना आचार-व्यवहार भी इसी के अनुरूप निर्धारित करते हैं। इसके अतिरिक्त इस संदर्भ में संसार के सभी धर्मशास्त्रों में प्रायः एक से ही सामान्य धर्म का उपदेश है। उन सबका सार यही है कि परोपकार (पर-सेवा) से पुण्य होता है और परपीड़न से पाप। ❖

संदर्भ

1. पाण्डुरंग वामन काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-3
2. ऋग्वेद 10/5/6
3. निरुक्त 6/27
4. श्री राजबली पाण्डेय : भारतीय नीति का विकास

5. वृह. उप. 4/4/5
6. वृह. उप. 4/4/11
7. वृह. उपनिषद 4/4/8-9
8. छा. उप. 7/1/3
9. सत्यव्रत सिद्धांतालंकार : एकादशोपनिषद भाग-2
10. मनुस्मृति 11/46, 241
11. राधाकृष्णन् : श्रीमद्भगवद्गीता
12. वृह. उप. 4/4/22, 23
13. भीखनलाल आत्रेय : भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास
14. आचार्य महाप्रज्ञ : जैन दर्शन एवं मीमांसा
15. उत्तरज्झयणाणि 29/24
16. नवपद चौपाई/62
17. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय 2/53।
18. राधाकृष्णन् : भारतीय दर्शन भाग-1

मनुष्य के जितने अंतर्वैयक्तिक संबंध हो सकते हैं—माता-पिता, मित्र, भाई, पुत्र, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक, दास-दासी इत्यादि—उन सभी संबंधों के रूपों में उसकी कामना की जा सकती है, परंतु सबसे शक्तिशाली और आकर्षक संबंध प्रिया-प्रिय संबंध है। व्यक्त जगत में प्रकृति और पुरुष का या शिव और शक्ति का या प्रज्ञा और उपाय का मिश्रण ही दृष्टि-गोचर हो रहा है। इसलिए व्यक्त जगत में विशुद्ध स्त्री या विशुद्ध पुरुष हैं ही नहीं। प्रत्येक व्यक्ति में ये तत्त्व एकमेक होकर गुंथे हुए हैं। मात्रा की कमी और बेशी के कारण व्यक्त जगत में स्त्री या पुरुष रूप में अभिव्यक्ति होती है। जिसमें शक्ति-तत्त्व अधिक होता है वह व्यक्त जगत में स्त्री रूप में प्रकट होता है और जिसमें शिव-तत्त्व अधिक होता है वह व्यक्त जगत में पुरुष रूप में प्रकट होता है। जो बात व्यष्टि रूप में सत्य है वही समष्टि रूप में भी। समष्टि रूप में व्यक्त जगत शिव और शक्ति का सम्मिलन रूप है, वही अर्द्धनारीश्वर का रूप है और उसे ही बौद्ध साधकों ने युगनद्ध के रूप में देखा है। यही कारण है कि 'व्यक्ति' मानव की गहराई में जो चित स्वरूप है वह प्रेम परिपूर्णता की अवस्था में परमात्मा के इन दो रूपों—शिव और शक्ति—की निरंतर चलने वाली लीला का आश्रय-स्थल है। मनुष्य में जब-तक जड़ आवरण के साथ रंचमात्र भी आत्माभिमान का भाव रहता है जब-तक यह द्वैत बुद्धि भी बनी रहती है और जब-तक मनुष्य जीवित है तब-तक इस स्पर्श से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाता है। इसीलिए यह नित्यलीला भी चलती रहती है। जो प्रेम सांसारिक है, शरीर के जड़ आवरण के आकर्षण से उत्पन्न होता है वह ऊपर से चलकर चैतन्य को स्पर्श करने का प्रयास करता है, परंतु जो प्रेम गहराई में स्थित है वह नीचे से चलकर उपरले आवरण को भी प्रभावित करता है। इस प्रेम में जो व्याकुलता और आतुरता के लक्षण प्रकट हैं वह उसी प्रकार सबको शांति और मिठास देते हैं; जिस प्रकार परिपाकावस्था में बाहर की ओर रंगीन हो जाने वाले फल अपनी मिठास से संसार को तृप्ति देते हैं। इस प्रेम में विरोध, ईर्ष्या और असूया का स्थान नहीं है। मानसिक स्तर पर इस प्रेम-लीला में जो ईर्ष्या या असूया हैं, वे भी केवल शाश्वत सुख को गाढ़ ही बनाते हैं। वस्तुतः उपरले स्तर की जितनी भी वृत्तियां हैं वे गहराई में जाकर शांति और आनंद का ही हेतु बनती हैं।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

कर्म सिद्धांत की वैज्ञानिकता

निहालचन्द जैन

जीवन दोनों तरफ फैला है—बाहर भी, भीतर भी। बाहर की खोज विज्ञान है और भीतर की खोज अध्यात्म-विज्ञान है। इसे वीतराग विज्ञान से भी संज्ञित किया जा सकता है। यदि बाहर का भौतिक-विज्ञान दृश्य जीवन का मूल है तो अध्यात्म-विज्ञान का अर्थ जीवन का महकता फूल है। धर्म का मूल स्रोत अंतर्ज्ञान-दृष्टि है और विज्ञान का मूल बुद्धि या तर्क पर टिका है। अंतर्दृष्टि सार्वकालिक और शाश्वत होती है, जबकि बुद्धि और तर्क कारणों के बदल जाने से परिवर्तनशील हैं। इसलिए विज्ञान प्रयोगों के निष्कर्ष एवं अनुभव पर टिका है, जबकि धर्म अनुभूति पर। परंतु दोनों का उद्‌गम चैतन्य आत्मा है।

जैसे वायुयान, धरातल पर बनी हवाई-पट्टी पर गतिशील होकर आकाश में ऊपर उठता है, ऐसे ही जीवन का वायुयान विज्ञान की पट्टी पर गतिशील बनकर धर्म के उन्मुक्त आकाश में ऊर्ध्वशील होता है। अतः स्वस्थ जीवन की दो आंखें हैं : विज्ञान और अध्यात्म विज्ञान—दोनों की रोशनी से ही समन्वय का दर्शन फलित होता है।

विज्ञान समृद्ध हुआ है। इक्कीसवीं शताब्दी 'सुपर कंप्यूटर' की धुरी पर घूमेगी। सूचनाओं की प्रौद्योगिकी/ज्ञानकोष में वृद्धि होगी, परंतु यदि अध्यात्म अनुपस्थित रहा तो उसमें सद्-दृष्टि का विवेक नहीं जुड़ पाएगा। याद रखें : विवेकरहित ज्ञान से संवेदनशील और सौंदर्यपरक सृजनशक्ति की बजाय ध्वंसात्मक शक्ति को ज्यादा बढ़ावा मिलेगा।

अस्तु धर्म और विज्ञान की सहमैत्री इक्कीसवीं शताब्दी के लिए शुभाशीष बने और इनकी व्याप्ति विस्तृत हो तो कर्मसिद्धांत की शाश्वतता को वैज्ञानिक आंख से भी पढ़ा जा सकता है।

आयुर्विज्ञान के अनुसार अनेक प्रकार की शारीरिक ग्रंथियों में रसायन (Chemicals) बनते हैं और रसों का स्राव होता है। कर्मशास्त्र के अनुसार कर्म का रसायन बनता है, जिसे कर्म का अनुभाग-बंध कहते हैं। कर्म का रसविपाक, ग्रंथितंत्र और नाड़ीतंत्र को प्रभावित करता है। कर्म उदय आया, विपाक हुआ और नाड़ी (ग्रंथि)-तंत्र प्रभावित हो गया। रस बदला और विचार बदल जाते हैं, आचार-व्यवहार बदल जाता है। कई बार ऐसा होता है कि व्यक्ति यह जानता है कि अमुक काम बुरा है, किंतु जब कर्म का उदय और विपाक-काल आता है, तो उस व्यक्ति से वह काम जैसे कोई जबरन करवा देता है।

जैन दर्शन में कर्म की सिद्धि

प्रत्येक जीव मूलतः अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति वाला है, परंतु जीव के ये मूल गुण वर्तमान में प्रकट नहीं हैं, उसका कारण हमारे भाव-कर्म और द्रव्य-कर्म की संतति है।

सो सव्वणाणदरिसी कम्मयेण णियेण तच्छण्णे

(समयसार गा...67)

अनंत चतुष्टयशक्ति वाले जीव को पराभूत करने वाला प्रतिपक्षी द्रव्य-कर्म भी अनंत शक्तिसंपन्न है। जैसा आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा—

मोहेन संवृतं ज्ञानं, स्वभाव लभते न हि।
गतः पुमान्पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः।।

जिस प्रकार नशीले कोदों के सेवन से जीव हिताहित को भूल कर मदमस्त हो जाता है, उसी प्रकार मोहकर्म रूपी मद्य से अपने मूल स्वरूप (शुद्ध रूप) को प्राप्त नहीं कर पा रहा है। जैसे मैल के प्रभाव से वस्त्र की शुभ्रता नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार कर्मों की सत्ता के कारण जीव संसारी बना दुख प्राप्त कर रहा है। मोक्ष-मार्ग को प्रशस्त करने वाला 'सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरित्र' गुण को रोकने वाला मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय भावों के उदय से आत्मा मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी और अचारित्री हो रहा है।

नास्ति कर्मफलच्छेताकाश्चिल्लोक मयोऽपि च।

(महाभारत)

तीन लोक में कोई ऐसा पुरुष नहीं, जो कर्मों के फल को भोगे बिना उन्हें नष्ट कर सके।

आंग्ल-भाषा में कहावत है—'As we sow, so we reap'. हम जो कर्म-बीज बोते हैं, उसी के फल की फसल काटते हैं।

जीव परिणाम हेदुं कम्मतं पुग्गला परिणमेति॥
पुग्गल कम्मणिमित्तं, तहवे जीवो वि परिणमदि॥

(समयसार गाथा 80)

जीव के राग-द्वेष परिणामों का निमित्त पाकर कर्मवर्गणायोग्य पुद्‌गल द्रव्य कर्मरूप में बदल जाते हैं। अर्थात् भावों से द्रव्यकर्म आमंत्रित होते हैं। इसी प्रकार द्रव्य कर्म का सहयोग पाकर जीव मिथ्यात्व और रागादि-भाव परिणाम करता है, जैसे पुरुष द्वारा ग्रहण किया आहार रस-विपाकों द्वारा मांस, रुधिर, मज्जा, वीर्य आदि में रूपांतरित हो जाता है, उसी प्रकार कर्म-स्कंध (समूह) भी जीवों में रागादि भावों को प्राप्त करके आठ स्वभाव वाले कर्मों में परिणमित हो जाता है।

कर्म का रसायन-विज्ञान : कर्म का उदय जीव की स्वतंत्रता को बाधित करता है और इसे परतंत्र रखना चाहता है। जीव के पारिणामिक भाव और औदयिक भाव—दोनों का संघर्ष निरंतर चालू है। उस संघर्ष ने जीव की चेतना को तीन भागों में विभाजित कर दिया : (1) ज्ञानचेतना, (2) कर्मचेतना और (3) कर्मफलचेतना।

(1) ज्ञानचेतना : इसका काम है मात्र जानना। आंख के सामने आई वस्तु का ज्ञान हो जाना ज्ञानचेतना है।

(2) कर्मचेतना : इसका काम राग-द्वेष उत्पन्न करना है। पांचों इंद्रियों के विषय हमारे सामने आते हैं, उनमें किसी के प्रति राग तो किसी दूसरे विषय के प्रति द्वेष, यह काम मोह का है या कहें कि कर्मचेतना का है।

(3) कर्मफलचेतना : इसका काम सुख-दुख की संवेदना पैदा करना है। इष्ट विषय से सुख का संवेदन और अनिष्ट से दुख का संवेदन, यह कर्मफलचेतना का काम है।

आयुर्विज्ञान के अनुसार अनेक प्रकार की शारीरिक ग्रंथियों में रसायन (Chemicals) बनते हैं और रसों का स्राव होता है। कर्मशास्त्र के अनुसार कर्म का रसायन बनता है, जिसे कर्म का अनुभाग-बंध कहते हैं। कर्म का रसविपाक, ग्रंथितंत्र और नाड़ीतंत्र को प्रभावित करता है। कर्म उदय आया, विपाक हुआ और नाड़ी (ग्रंथि)-तंत्र प्रभावित हो गया। रस बदला और विचार बदल जाते हैं, आचार-व्यवहार बदल जाता है। कई बार ऐसा होता है कि व्यक्ति यह जानता है कि अमुक काम बुरा है, किंतु जब कर्म का उदय और विपाक-काल आता है, तो उस व्यक्ति से वह काम जैसे कोई जबरन करवा देता है।

जब कर्म का विपाक आता है तो दो स्थितियां बनती हैं : (1) पुण्यकर्म का विपाक आया तो सुख मिलता है—प्रिय संवेदन होता है। धर्म के प्रति श्रद्धाभिभूत सम्यक् दृष्टि उस समय विचारता है कि मैं पुण्य का ऐसा भोग करूं जिससे आगे वह पाप का कारण न बन जाए। वह सोचता है कि पुण्य से जो सुख-सुविधाएं (भोग) प्राप्त हैं, इन्हें मैं नहीं भोगूंगा। वह कर्मों से हल्का होता हुआ निर्जरा को प्राप्त होता है। धर्म से विहीन व्यक्ति पुण्यकर्म के विपाक-समय मिली सुख-सुविधाओं में इतना मग्न हो जाता है कि वह अपने हेय या उपादेय का खयाल नहीं रखता, जिससे वह आगामी कर्मों का बंध ही करता है।

(2) जब पापकर्म का विपाक आता है तो व्यक्ति बेहाल हो जाता है, परंतु सम्यक् दृष्टि धर्मात्मा विचारता है कि मैंने अतीत में अशुभ कर्म किया, जिसका यह दुखरूप फल है, अतः इसका भोक्ता क्यों बनूं? ऐसा विचार कर वह समता भाव रखता है, जिससे नए पापकर्म नहीं बांधता है।

उक्त दोनों स्थितियां तब बनतीं हैं जब ज्ञानचेतना जागती है।

कर्मबंध की प्रक्रिया : वैज्ञानिक पृष्ठभूमि

कर्म का आस्रव, बंध तथा कर्म का संवर और निर्जरा वैज्ञानिक सिद्धांत के आधार पर व्याख्यायित किए जा सकते हैं।

कर्म सिद्धांत की वैज्ञानिकता

पुद्‌गल द्रव्य (Physical matter) को 33 वर्गणाओं (Classifications) के अंतर्गत रखा माना गया है। इनमें एक कार्मण वर्गणा भी है, जो जीव के विभाव परिणमन के अनुसार कर्मरूप बदलकर जीव (आत्मा) के साथ संयुक्त हो जाते हैं। संपूर्ण लोकाकाश इस कार्मणरूप सूक्ष्म पुद्‌गल द्रव्य से भरा हुआ है, जैसे संपूर्ण आकाश में विद्युत् चुंबकीय तरंगें (Electro magnetic waves) व्याप्त हैं। कर्म-परमाणु के पुंज अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण, तरंग-रूप में गमन करते हुए माने जा सकते हैं। जिनका कंपनांक (Frequencies) बहुत उच्चतम—X-Rays के कंपनांक (10^{11}-10^{17} (Htz) की तुलना में असंख्य गुना ज्यादा होता है।

एक निश्चित कंपन की विद्युत् चुंबकीय तरंगों को रेडियो-रिसीवर द्वारा प्राप्त करने के लिए, उसमें एक ऐसे दोलित्र (Oscillator) का उपयोग करते हैं जो उस विशिष्ट कंपन की तरंगों को पैदा कर रहा हो। उसे विद्युतीय साम्यावस्था का सिद्धांत (Principal of Electrical Resonance) कहते हैं। इससे आकाश में व्याप्त वह विशेष

कंपन वाली तरंगें रिसीवर द्वारा ग्रहण कर ली जाती हैं। रिसीवर में यह संधारित्र-प्रणाली (Condenser) द्वारा संपन्न (Tunned) कर ली जाती है।

आत्म-प्रदेशों द्वारा कार्मण स्कंधों की तरंगों को ग्रहण करने में यही प्रक्रिया होती है। कर्म उदय (विपाक) के समय, आत्म-प्रदेशों में तीव्र कंपन होते हैं, जिनसे अशुद्ध भावों का सृजन होता है।

आत्म-प्रदेशों में यह कंपन (Vibrations) मन, वाणी और शरीर के अंग-उपांग के परिस्पंदन की सहायता से होता है, जिसे जैन दर्शन में 'योग' संज्ञा से अभिहित किया गया।

यहां आत्म-प्रदेश दोलित्र (Oscillator) की भांति व्यवहार करता है। आत्म-भावों के अनुरूप उत्पन्न तरंगें जिस तरंग-लंबाई (Wavelength) की होती हैं उन्हीं तरंग-लंबाई (Λ) वाली कर्म-वर्गणा की तरंगों को स्वतः आकाश से अपनी ओर आकर्षित कर ग्रहण कर लेता है (विद्युतीय साम्यावस्था के सिद्धांतानुसार) जिसे जैन दर्शन की भाषा में कहें कि भावकर्मों से द्रव्यकर्मों का आना (आस्रव तत्त्व) होता है।

शंका—आत्म-प्रदेशों में कंपन क्यों होता है? कौन प्रेरक है?

समाधान—पूर्वबद्ध कर्म का जब विपाक-समय आता है तो वे आत्म-प्रदेशों में कंपन उत्पन्न करके विलग हो जाते हैं। कर्म-विशेष का उदय (विपाक)-काल के समय यह परिस्पंदन होता है। चूंकि प्रतिसमय कर्म का उदय होता है जिससे प्रतिसमय आत्म-प्रदेश-स्पंदन भी होता रहता है और वे नवीन कर्मों को ग्रहण करने की भूमिका का निर्माण करते हैं।

आत्म-प्रदेश और कर्म-परमाणुओं का यह संश्लेष, कर्मबंध है। इस कर्मबंध के दो कारक (Elements) हैं : (1) भाव—मोह, मिथ्यात्व, राग-द्वेष, काषायिक (क्रोध, लोभादि) आदि जीव के वैभाविक (अशुद्ध/विकृत) भाव हैं जो आत्म-प्रदेशों में Self Oscillations उत्पन्न करते हैं। (2) द्रव्यबंध—नवीन कर्म-परमाणुओं का पूर्वबद्ध कर्मों के साथ या आत्म-प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही रूप हो जाना द्रव्यबंध है।

स कषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान पुद्गलानादत्ते स बंधः।।

(तत्त्वार्थसूत्र-8-21)

कषायसहित होने पर कार्मण स्कंधों को ग्रहण करना बंध है। विज्ञान की भाषा में कहें तो आत्म-प्रदेशों के कंपन (Oscillation) तथा कार्मण तरंगों के कंपन (Vibration/frequencies) का अध्यारोपण (Interference) होना बंध है।

जैन दर्शन में बंध का स्वरूप

जोगा पयडि पएसा ट्ठिदि अणुभागा कसायदो कुणदि।।
अयरिणदुच्छिण्णेसु य बंध ट्ठिदिकारणं णत्थि।।

(गो. कर्मकांड 257-216)

संसारी जीव योग से प्रकृति व प्रदेशबंध करता है तथा कषाय से स्थिति एवं अनुभागबंध करता है। जो जीव योग और कषाय से युक्त नहीं है, उसके कर्मबंध भी नहीं है। इस प्रकार कर्मबंध चार प्रकार का होता है :

1. **प्रकृतिबंध** : कर्म की प्रकृति/स्वभाव को प्रकृतिबंध कहा गया जो आठ प्रकार का है :

(1) ज्ञानावरणीय कर्म : जो आत्मा के ज्ञान स्वभाव को ढक देता है, जैसे भगवान की प्रतिमा के सामने वस्त्र रहने से उनका रूप ढक जाता है।

(2) दर्शनावरणीय कर्म : चेतनारूपी प्रकाश को आवृत करने वाला कर्म है, जैसे द्वारपाल राजा/मंत्री से मिलने नहीं देता।

(3) वेदनीय कर्म : इंद्रियों का अपने रूपादि विषयों का अनुभव करना वेदनीय है। उसमें साता/असाता रूप सुख/दुख का जो कर्म वेदन (अनुभव) कराते हैं, वे वेदनीय कर्म हैं।

(4) मोहनीय कर्म : जो जीव को मोहित करे। जो जीव के दर्शन-गुण को मोहित करके उसे मिथ्यादृष्टि बनाता है, वह दर्शन मोहनीय है तथा जो जीव के चारित्र-गुण को मोहित करके आत्मा के चारित्र-गुण को प्रकट नहीं होने देता वह चारित्र मोहनीय है, जैसे शराब के नशे में जीव अपने को भूल जाता है। यह सबसे शक्तिशाली कर्म है।

(5) आयुकर्म : जिस कर्म के उदय से जीव नाना गतियों में जाता है/जाने के लिए मजबूर होता है।

(6) नामकर्म : जैसे चित्रकार अनेक प्रकार के चित्र बनाता है, उसी प्रकार नामकर्म संसार-संरचना का काम करता है। शुभ नामकर्म से सुंदर और अशुभ नामकर्म से विकलांग, कुरूपादि शरीर प्राप्त होते हैं।

(7) गोत्रकर्म : जैसे कुंभकार छोटे/बड़े घड़ों का निर्माण करता है, उसी प्रकार यह कर्म जीव को उच्च या नीच आचरण वाले गोत्र में प्रतिष्ठित करता है।

(8) अंतराय : जो दाता और पात्र आदि के बीच विघ्न उत्पन्न करा दे, जैसे—भंडारी राजादि के लिए दानादि में हस्तक्षेप का कारण बन जाता है, उसी प्रकार अंतराय कर्म जीव को पराङ्मुखी बना देता है।

कर्मों की ये आठ प्रकृति, तरंग-सिद्धांत से विभिन्न तरंग-दैर्घ्य (Wavelength) वाली या उनकी विशिष्ट बारंबारता (Frequencies) में हुआ करती हैं। अलग-अलग तरंग-दैर्घ्य की कार्मण तरंगें, अलग-अलग प्रकृति/स्वभाव वाली होती हैं, जैसे—भिन्न-भिन्न रंगों का प्रकाश भिन्न-भिन्न तरंग-दैर्घ्य वाला होता है।

2. अनुभागबंध

विपाकः प्रागुपात्तानां यः शुभाशुभकर्मणाम्।
असावनुभवी ज्ञेयो यथानाम भवेच्च सः॥

पूर्व में कहे शुभ-अशुभ कर्मों का जो विपाक-रस है वह अनुभाग/अनुभव कहलाता है। जिस कर्म का जैसा नाम है, उसका वैसा ही अनुभव है। विपाकोऽनुभवः (तत्त्वार्थ 8/21)। स यथानाम—(वही-8/22)। उदय में आकर फल देने को अनुभवबंध कहते हैं। यह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव की सापेक्षतापूर्वक तीव्र या मंदभाव रूप होता है।

3. प्रदेशबंध : तत्त्वार्थसूत्र 8-24 का यह सूत्र प्रदेशबंध के संबंध में 6 बातों का रहस्य खोलता है :

नाम प्रत्ययाः सर्वतो योग विशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहे
स्थिता सर्वात्म प्रदेशस्वनान्तानन्तः प्रदेशाः

1. प्रदेशबंध किसके कारण हैं? (नाम प्रत्ययाः) ज्ञानावरणादि सभी कर्म-प्रकृतियों के कारण।

2. वे कर्म-प्रदेश कब, कहां बंधते हैं? (सर्वतः) सभी भावों में।

3. किस कारण से बंधते हैं? (योग विशेषता)—मन, वचन और काय के परिस्पंदन रूप योग के कारण से बंधते हैं।

4. उन कर्मों का स्वभाव कैसा है? (सूक्ष्मैक क्षेत्रावगाहः) सूक्ष्मरूप है।

5. बंधने वाले कर्म किनको बांधते हैं? (सर्वात्मप्रदेशेषु) आत्मा के संपूर्ण प्रदेशों में क्षेत्रवर्ती कर्म परमाणुओं को।

6. वे कर्म-स्कंध कितनी संख्या वाले हैं? (अनन्तानन्त प्रदेशाः) एक आत्मा के असंख्यात प्रदेश होते हैं और प्रत्येक प्रदेश में प्रति समय अनंतानंतप्रदेशी पुद्गल-स्कंध बंध रूप होते रहते हैं।

4. स्थितिबंध

प्रत्येक कर्म के बंधे रहने की काल-मर्यादा को स्थितिबंध कहते हैं। जैसे वेदनीय, अंतराय, ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय के उत्कृष्ट स्थिति 30 कोड़ाकोड़ी, मोहनीय की 70 कोड़ाकोड़ी, नाम व गोत्र की 20 कोड़ाकोड़ी सागर तथा आयु की 33 सागर की होती है। इसी प्रकार जघन्य स्थिति वेदनीय की 12 मुहूर्त, नाम व गोत्र की 8 मुहूर्त तथा शेष समस्त कर्मों की अंतर्मुहूर्त है।

इस प्रकार जैन दर्शन में 'कर्म' का वही स्थान है जो अन्य दर्शनों में ईश्वर का। कर्म की भूमिका ईश्वर के रूप में जीवों के पर्यायों की सृष्टि, संरक्षण और संहार करती रहती है। ❖

धर्म, अपने विस्तृत अर्थों में संस्कृति के समान है और उससे बाहर भी है तथा संकुचित अर्थों में उसका महत्त्वपूर्ण अंग बनता है। जहां धर्म, आंतरिक अनुभूतियों के महत्त्व को प्रकट करता है, जिससे जीवन के अर्थ और उद्देश्य का ज्ञान हो, वह संस्कृति की मूल आत्मा है, किंतु वहां धर्म का प्रयोग बाह्य रूप में होता है, जिसमें आंतरिक अनुभूतियां प्रतिबिंबित होती हैं, वह संस्कृति का एक अंशमात्र रह जाता है। धर्म, उच्चतम सत्य की आंतरिक उपलब्धि के रूप में, कभी संस्कृति का विरोधी नहीं बन सकता, किंतु जब वास्तविक धर्म का ह्रास होता है और वह सारहीन बन जाता है, तब अक्सर संस्कृति से उसका टकराव होता है।

—एस. आबिद हुसैन

अनुभूति

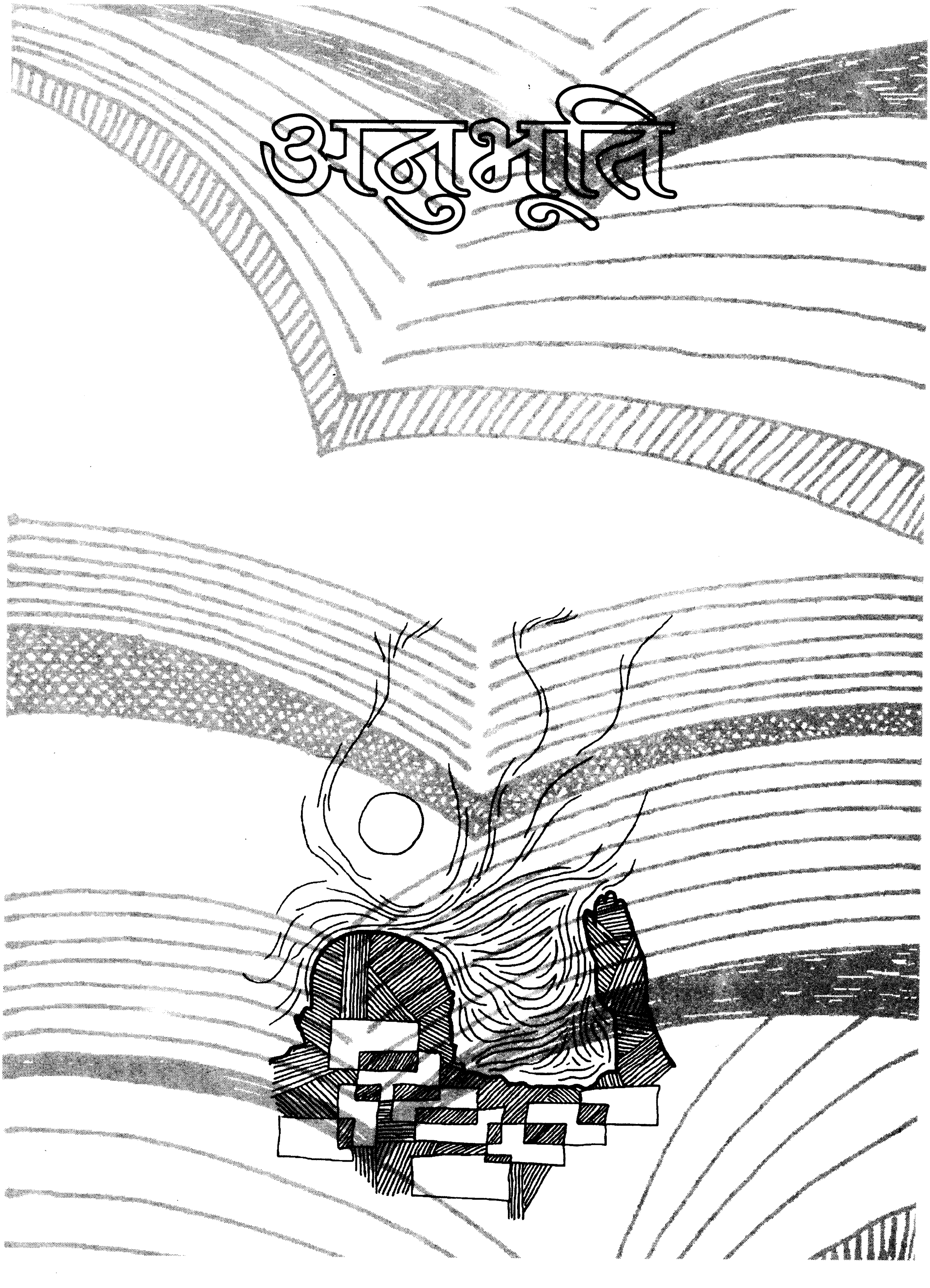

सत्य का दावा करना अंततः संसार के परम रहस्य का अस्वीकार है जबकि साहित्य तो सदियों से उस रहस्य से ही अपना जीवत्व पाता रहा है। उस रहस्य का जैसा सहज और निश्छल स्वीकार साहित्य में संभव है अन्यत्र नहीं। एक निरंतर रहस्यहीन होते जा रहे संसार में रहस्य का स्वीकार, उसकी उद्भावना एक रैडिकल काम है।

—अशोक वाजपेयी

आचार्यश्री महाप्रज्ञ जन्मोत्सव पर विशेष

प्रज्ञा-गंगोत्री की पुष्कल धारा

✍ डा. राजानंद ✍

जीवन जीने की शैली का नाम जीवन विज्ञान है, जीवन जीना एक कला भी है। लेकिन यह विज्ञान, यह विशिष्ट कला, न जानने में बड़ी सरल, सहज और धारा-प्रवाही है और जानने की कोशिश करें तो बड़ी जटिल, उलझावभरी तथा खड़ी चढ़ाव वाली लगती है। इसका कारण है, यह मुख्यतः मनुष्य संज्ञक जीव से संबंधित है और उस मनुष्य संज्ञक जीव से संदर्भित है जो ज्ञात-अज्ञात, अचेतन-चेतन सृष्टि में रहने के लिए चाहे-अनचाहे नियतित है। उसने कदाचित जन्मना चाहा नहीं, पर जनम गया। उसने माता-पिता, परिवार, समाज, राष्ट्र, पर्यावरण व परिवेश को चुना नहीं, पर उसे मिल गया। क्यों मिला? उसने नहीं जाना।

अब जाने तो जाने कैसे? जानना तो होगा—उसे। क्योंकि केंद्र में है वह, वृत्तों की संख्या संख्यातीत है और बहुत-सी विडंबनाओं में एक विडंबना यह है कि प्राणियों में वह अपेक्षतया उत्कृष्ट चेतनासंपन्न प्राणी है। अर्ध पशुवर्गीय; अर्ध मानव-वर्गीय—नरसिंह। नरत्व में चेतना, सिंहत्व में सहज, नैसर्गिक प्रवृत्तिमूलकता। और यह जीने का विज्ञान, जीने की शैली, जीवन कला की भारवाहिता तथा दायित्व उसी की परेशानी, उसी पर पड़ी है गाज। अस्तु।

वर्तमान के इस बुद्धिवादी, वैज्ञानिक-तकनीकी और भौतिकताप्रधान समय में अगर क्रम को उलटकर विचार करें तो क्रम यूं बनेगा : जीने की कला, जीने की शैली, जीने का विज्ञान। कला में कलावंत होता है, एक माध्यम (उपादान, साधन) होता है और कलावंत की अभीप्सित कल्पना, जिसे साध्य अथवा संधानित लक्ष्य कह सकते हैं। अधिकतर माध्यम स्थूल होता है। कलावंत अपने अनुभव कोष, अपनी अंतश्चेतना के द्वारा, अपनी विशिष्ट प्रक्रिया तथा शैली से, उसमें (उपादान, माध्यम में) एक कृति फलित करता है—कलाकृति। तय मानकों की कसौटी के आकलन से यह ज्ञात होता है कि कलाकृति साधारण बनी, श्रेष्ठ बनी, श्रेष्ठतर निर्मित हुई या श्रेष्ठतम।

कला के आकलन के मानक रुचि, संस्कार, परिवेश, काल आदि के कारण कभी भिन्न, कभी आग्रही, कभी दूसरी मानक दृष्टि के कारण विरोधी स्थिति भी ले लेते हैं। क्योंकि आकलनकर्ता मनुष्य ही होता है। लेकिन अगर कलावंत भी मनुष्य हो, उपादान भी चेतन मनुष्य हो और फलित कलाकृति भी उपादान का ही विकसित पर्याय हो— तब आकलन और भी समस्यामूलक हो जाता है।

मेरे समक्ष भी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी समझने की दृष्टि से एक सुलझी-उलझी समस्या के रूप में हैं। अंततः मैं भी एक प्राणी हूं और आचार्यश्री भी 'महाप्रज्ञ'-प्राणी हैं। विशेषणों से दूर रहकर भी उनके गहन ज्ञान, साधना-संपन्न व्यक्तित्व तथा तेरापंथ के शीर्ष-पुरुष होने के नाते कुशल व्यवस्थापक, संचालक, प्रेरक आदर्श के गुणी-धर्मी स्वरूप से प्रभावित होऊं या होता रहा हूं तो अस्वाभाविक नहीं है। महाप्रज्ञजी की आध्यात्मिक उपलब्धि उनकी अपनी

किसी भी व्यक्ति की 'महानता' कृत्रिम तथा फौरी नहीं हो सकती। उसे वह अपने संयम, अपने कर्तृत्व तथा साधना से ही अर्जित करता है। वह स्वीकृत तब होता है जब स्वीकृति पाने की क्षमता अपने में विकसित कर पाता है। जो श्रद्धा तर्काश्रित होती है उसमें स्थायित्व होता है, अंध-श्रद्धा के भंग होने की संभावना उसके गर्भ में पलती रहती है। जिसे मोहभंग कहते हैं—वह बड़ी बदतर स्थिति होती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इसीलिए विवेक-जागृति की बात कहते हैं; स्वयं को जानने की बात करते हैं। सत्य को पाने की प्रक्रिया भिन्न हो सकती है, अपना आत्मप्रकाश, अपनी श्रेष्ठता को तो खुद ही पाना होगा।

है और अपने लिए ही हो सकती है, लेकिन उनके चिंतन का वह पक्ष, जो अपने को वर्तमान के केंद्र में रखकर विधेयात्मक दृष्टि से आधुनिकता की अनेकानेक समस्याओं के समाधान की ओर संकेत करता है—वह महत्त्वपूर्ण है, विचारणीय है। भौतिकवादी मरीचिकाई जीवन के बरक्स दार्शनिक, धार्मिक व आध्यात्मिक-पुष्ट जीवन विज्ञान को प्रस्तावित करना सामयिक तथा औचित्यपूर्ण लगता है। यह बात दीगर है कि हम इसे तेरापंथ की तरफ से मानकर नजरअंदाज करें। इसे अपनी स्वीकृति इसलिए नहीं दें, क्योंकि यह प्रक्रिया संयम, अनासक्ति तथा आत्मनियंत्रण की अपेक्षा रखती है। अंतःज्ञान की अपेक्षा भी।

मैंने महाप्रज्ञजी को 'मानवीय श्रेष्ठकृति' कहने का जो साहस किया है, वह उन की 'आत्म-स्वीकृति' के आधार पर है। मेरा मानना है कि वे श्रेष्ठ मानवीय प्रतिमान हैं, पर कैसे विकसित हो सके? इसके लिए 'जैन भारती'—फरवरी, 2000 के अंक में प्रकाशित आत्मकथ्य 'मैं मुनि होना चाहता हूं' पढ़ा जा सकता है। उसके कुछ अंश :

कोई बच्चा आगे क्या होगा, यह सब नियति के गर्भ में होता है। उसका स्पष्ट बोध स्वयं को भी नहीं होता और दूसरों को भी नहीं होता। उसका पूर्वाभास स्वयं को भी हो जाता है और दूसरों को भी हो जाता है (पृ. 25)।

मैं नहीं कहता कि मुझे संसार असार लगा, इसलिए मैं मुनि बन गया, अथवा जन्म-मरण के चक्र से डरकर मैं मुनि बन गया; अथवा नरक के भय और स्वर्ग के प्रलोभन से मैं मुनि बन गया। मैं एक ही उत्तर देना पसंद करूंगा और वही उत्तर देता रहा हूं कि अज्ञात की प्रेरणा थी और ज्ञात जगत की घटना घटी, मैं मुनि बन गया (पृ. 26)।

साढ़े दस वर्ष की आयु में माघ शुक्ला दसमी, वि.सं. 1987 के दिन नथमल नामक बालक अपनी माताश्री के साथ पूज्य कालूगणि द्वारा दीक्षित हुआ।

यह बालक उस समय 'वर्णमाला; कुछ पहाड़े'-भर जानता था। आज की भाषा में जिसे हम अनौपचारिक शिक्षा कहते हैं, वही माध्यम रहा इस बालक की शिक्षा का। लेकिन विद्यागुरु थे तुलसी मुनि (आचार्यश्री तुलसी) उनके शिष्यत्व में ही मुनि नथमल प्रखर अध्येता ही नहीं बने, योगी भी बने। महाप्रज्ञजी लिखते हैं :

गुरुदेव ने एक कुशल शिल्पी और एक कुशल कर्मी के रूप में एक प्रतिमा को गढ़ा और ऐसे प्रस्तर की प्रतिमा को गढ़ा, जिसका कोई मूल्य नहीं था। प्रतिमा का इस प्रकार निर्माण किया कि उसे यह अनुभव भी नहीं होने दिया कि उसमें किसी विशिष्ट शक्ति का अवतरण या आरोपण किया जा रहा है। कोरा ज्ञान होता तो शून्य पूरा भरता नहीं, उसमें अहंकार को अपना आसन बिछाने का अवसर मिल जाता। ज्ञान के बाद ध्यान की प्रेरणा ने उस शून्य को भर दिया (पृ. 36)।

यही कारण है कि युवाचार्य बनने व किसी के पूछे जाने पर कि आपमें कोई परिवर्तन क्यों नहीं आया? तब उत्तर मिलता—गुरुदेव ने मुझे पहले योगी बना दिया और बाद में युवाचार्य।

ज्ञान और ध्यान के तत्त्व साथ-साथ रहें तो अंतःकरण में समत्व का भाव जागृत रहता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने बार-बार यह स्वीकार किया है कि अनेकांत दृष्टि के आलोक ने उनके अध्ययन, चिंतन, मनन को खुलापन दिया तथा आग्रही बनने से बचाए रखा। समन्वय-प्रेरित चिंतन ने किसी भी पक्ष-प्रतिपक्षीय समस्या में उन संकेतों तक पहुंचने में सहायता दी जो सह-रहन और सह-चलन करा सकते हैं।

एक तथ्य पर और ध्यान देना होगा। विद्यागुरु शिष्य के अध्ययन-आयाम और स्तरों का मार्गदर्शन कर सकता है; शिष्य को चेता सकता है; उसमें चरित्र निर्माण के बीज डाल सकता है, लेकिन अंतःभूमि का उर्वरा होना भी तो एक पक्ष है। अनुशासन, आत्मानुशासन, संकल्प, पुरुषार्थ, सतत जागरूकता, कर्मशीलता की भी तो आवश्यकता है। सु-आचरण और कथनी-करनी में समानत्व की निरंतरता भी जरूरी है। खास तौर से जब कोई अध्यात्म के क्षेत्र में विशिष्टता अर्जित करना चाहता है। लक्ष्य के प्रति अछीजा विश्वास ही लक्ष्य तक पहुंचाता है। मानव में 'महा' तक की यात्रा सहज नहीं होती, तप-तपस्या साधना चाहती है। जितनी तपस्या, जितनी निर्मलता, निश्छलता, जितनी विस्तृत दृष्टि, उतनी ही फल-प्राप्ति होती है। ऐसा नहीं है कि 'महानता' का आरोपण दूसरों के द्वारा ही किया जाता है, विषयी को भी अनुभूति होती रहती है कि उसका शिखर आरोहण किस पड़ाव तक पहुंचा। हां, आध्यात्मिक आरोहण में अहंकार की गुंजाइश नहीं रहती। संतोष की भी नहीं। क्योंकि इस आरोहण के शिखर की ऊंचाई का माप नहीं होता। सत्य तो अखंड है, खंड उपलब्धि से संतोष कैसा और उसका अहंकार भी क्यों?

मैंने आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के संदर्भ में यह कहा है कि अपनी उपलब्धि के सजग आकलनकर्ता तो वे हो सकते हैं, लेकिन उनका जो विनम्र, शालीन, आवेश-मुक्त, तर्काश्रित

चिंतन है, उसकी भाषिक अभिव्यक्ति तथा व्यावहारिक सहजता है—यह उनको दूसरों की दृष्टि में महान बनाती है। किसी भी व्यक्ति की 'महानता' कृत्रिम तथा फौरी नहीं हो सकती। उसे वह अपने संयम, अपने कर्तृत्व तथा साधना से ही अर्जित करता है। वह स्वीकृत तब होता है जब स्वीकृति पाने की क्षमता अपने में विकसित कर पाता है। जो श्रद्धा तर्काश्रित होती है उसमें स्थायित्व होता है, अंध-श्रद्धा के भंग होने की संभावना उसके गर्भ में पलती रहती है। जिसे मोहभंग कहते हैं—वह बड़ी बदतर स्थिति होती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इसीलिए विवेक-जागृति की बात कहते हैं; स्वयं को जानने की बात करते हैं। सत्य को पाने की प्रक्रिया भिन्न हो सकती है, अपना आत्मप्रकाश, अपनी श्रेष्ठता को तो खुद ही पाना होगा। वे कहते हैं :

समाधान का सही उपाय है अपने-आप से पूछना। जो मनुष्य अपने-आप में समाधान खोजता है, उसे वह मिल जाता है। जो दूसरे से समाधान लेना चाहता है, उसका मार्ग बहुत जटिल होता है (जैन भारती, अक्टूबर, 1999)।

जैन भारती का ही अप्रैल, 2003 अंक इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का उसमें एक लेख है—'मेरे जीवन के रहस्य'—इसका आरंभ वे इन पंक्तियों के साथ करते हैं :

आज मैं उस सत्य को आनावृत करता हूं, उद्‌घाटित करना चाहता हूं—जिसके आधार पर व्यक्ति अपनी जीवन-शैली का निर्माण करता है, वह स्वयं के लिए और दूसरों के लिए लाभदायक बन सकता है।

जीवन-शैली व्यक्तिगत ही होती है और इस प्रकार का उद्‌घाटन स्वयं अपने को, अपनी अंतःयात्रा या अपनी थाती को कूतना भी होता है। तब दूसरे, अपनी स्थिति का साक्षात्कार कर उससे अपनी आवश्यकता के अनुसार लाभान्वित हो सकते हैं। प्रेरणा प्राप्त करने का मतलब ही यही होता है। मुनि-साध्वी वर्ग अपने अनुसार प्रेरणा ले, श्रावक वर्ग अपनी आवश्यकता के अनुसार और इतर धर्मावलंबी (नास्तिक भी) अपने अनुसार—अगर उनको उसमें कुछ सार्थक लगे। यह अवश्य होना चाहिए कि आग्रहमुक्त होकर, खुले मन-मस्तिष्क से परखा जाए।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ स्वीकार करते हैं :

भाग्य मानूं या नियति? सबसे पहली बात—मुझे जैन शासन मिला। जिन शासन का अर्थ मानता हूं—अनेकांत का दृष्टिकोण मिला। मैंने अनेकांत को जीया है। यदि अनेकांत का दृष्टिकोण नहीं होता तो शायद कहीं-न-कहीं दलदल में फंस जाता (जैन भारती पृ. 19)।

अनेकांत दृष्टि का फलन आचार्यश्री महाप्रज्ञ के जैन भारती के मार्च-अप्रैल-मई, 2002 के 'अनेकांत विशेष' अंक के लेख 'अनेकांत और नए समाज की रचना' में देखा जा सकता है। वे लिखते हैं :

अनेकांत दृष्टि में शाश्वत मान्य है, पर केवल शाश्वत मान्य नहीं है। उसके अनुसार अशाश्वत भी सत्य है, परिवर्तन भी सत्य है। शाश्वत के आधार पर अस्तित्व की व्याख्या की जा सकती है। वह अपरिवर्तनीय है। अपरिवर्तनीय का एक अविभाज्य अंग है परिवर्तन। अपरिवर्तन और परिवर्तन—दोनों पृथक् नहीं हैं। दोनों एक साथ रहने वाले हैं (अनेकांत विशेष, पृ. 11)।

हमें यह ध्यान रखना होगा कि जैन दर्शन में आत्मा के नैसर्गिक स्वभाव को शुद्ध माना गया है। लेकिन यह जीव में आवरणों से युक्त है। विशेषकर मनुष्य अपनी चेतना को 'ममकार मुक्ति तथा अनासक्ति' से ही शुद्ध, शुद्धतर कर सकता है। यानी परिवर्तन संभव है, यह उसके पुरुषार्थ पर निर्भर है। मिथ्या दर्शन उसकी समस्या है, सम्यक् दर्शन उसका समाधान है। लेकिन यह समाधान तभी प्राप्त हो सकता है जब इसके लिए प्रयास किया जाए। प्रयास युक्ति संगत हो। इसी के लिए 'जीवन-विज्ञान' के अंतर्गत प्रयोग किए जा रहे हैं। ऐंद्रिक लिप्तता और मेरा-मेरापन का अहंकार उस आध्यात्मिकता की अनिवार्यता की ओर संकेत कर रहा है जिसका दुर्भिक्ष पाया जा रहा है। भाव संस्कार का परिवर्तन जब तक नहीं होता तथा यह व्यावहारिक आचरण नहीं बनता, तब तक नए मनुष्य, नए समाज, नए विश्व की कल्पना वाचालता, पाखंड और दिवास्वप्न ही रहेगा। जब तक विचार हिंसक; करनी विषमताप्रधान; और चरित्र छद्‌मता-चालित होंगे, तब तक किसी भी तरह के परिवर्तन को संभव नहीं होने दे सकते। घृणा के पौधे को सींचकर समता-समानता के फल की आशा करना आकाशगंगा को सनीरा समझकर उसमें नहाने का भ्रम पालना होगा। इसी आलेख में आचार्यश्री महाप्रज्ञ सापेक्षता, समन्वय, सह-अस्तित्व, वैयक्तिकता के आधार, समाज रचना के आधार, व्यक्तित्व का वर्गीकरण, अनेकांत और लोकतंत्र, अनेकांत और अर्थनीति, स्वतंत्रता और परतंत्रता, सत्य की खोज और संवादिता उप-शीर्षकों से चिंतन और समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं और सभी जगह आधार अनेकांत की दृष्टि ही है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ लिखते हैं :

महात्मा गांधी जैसे आध्यात्मिक पुरुष अहिंसक समाज-रचना का स्वप्न देखते रहे, मार्क्स जैसे व्यक्ति

साम्यवादी समाज-रचना की प्रकल्पना करते रहे—अब तक दोनों के सपने साकार नहीं हुए। न अहिंसक समाज की रचना हुई, न साम्यवादी समाज अपने यौवन में आ सका। इसका हेतु भाव की यह तरतमता है अथवा एकांतवादी दृष्टिकोण है?

समाधान के रूप में आगे लिखते हैं :

केवल हृदय-परिवर्तन एकांतवादी दृष्टिकोण है। केवल दंडशक्ति भी एकांतवादी दृष्टिकोण है। हृदय-परिवर्तन और दंडशक्ति—दोनों के संतुलित योग के आधार पर अहिंसक समाज की रचना की जा सकती है। यह अनेकांतवादी दृष्टिकोण है।

कहा जा सकता है कि अहिंसक समाज की रचना में दंडशक्ति का समर्थन क्यों? यह तो हिंसा का समर्थन है। लेकिन यह व्यावहारिक समन्वय के सिद्धांत के अंतर्गत आ जाता है। अगर किसी में आवेश नियंत्रण नहीं है और वह इसलिए हत्याएं करता है कि उसे आनंद आता है; तो यह आदत मिथ्या है, आनंद मिथ्या है—बल्कि समाज के लिए घातक है। इसलिए दंडविधान का औचित्य ठहरता है। एकांगी दृष्टिकोण सत्य को समग्रता में नहीं देख पाता, इसीलिए एक तरह से प्रतिपक्ष के लिए नकारात्मक तथा असहिष्णु हो जाता है। लेकिन व्यावहारिक चेतना का निर्माण करने से पहले दार्शनिक चेतना का निर्माण आवश्यक है। दर्शन के आधार पर ही व्यवहार का प्रवर्तन होता है।'

आचार्यश्री महाप्रज्ञ का दार्शनिक चेतना से अभिप्राय है जीवन दृष्टि—सही, सटीक जीवन दृष्टि।

14 फरवरी, 2003 को मुंबई में वर्तमान राष्ट्रपति श्री ए. पी. जे. अब्दुल कलाम आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के दर्शन करने गए। वर्तमान की अनेक समस्याओं पर बातचीत हुई जो जैन भारती के अप्रैल, 2003 के अंक में प्रकाशित है। वार्ता के कुछेक महत्त्वपूर्ण बिंदुओं पर आचार्यप्रवर के उत्तर उद्धृत करना समीचीन रहेगा :

राष्ट्रपतिजी : लोग एकांतवादी बन रहे हैं। एकांत दृष्टिकोण को कैसे मिटाया जाए? अनेकांत की ओर कैसे मोड़ा जाए?

आचार्यश्री : सबसे बड़ी समस्या है भाव (इमोशन) की।

राष्ट्रपतिजी : क्या अनेकांत दृष्टिकोण में 'इमोशन' बाधा है?

आचार्यश्री : हां, नकारात्मक भाव समस्या की जड़ है। उससे एकांत दृष्टि पैदा होती है और वही झगड़े का कारण है। अनेकांत दृष्टिकोण के विकास के लिए इस पर ध्यान देना अपेक्षित है कि व्यक्ति अपने इमोशन (भाव) पर नियंत्रण कैसे करे? हमारे मस्तिष्क का जो 'राइट हेमिस्फियर' है, उसको हम जागृत कर सकें तो ये झगड़े समाप्त हो सकते हैं।

राष्ट्रपतिजी : आप जो कह रहे हैं—वह सही है, लेकिन हम करें कैसे? क्या यह बौद्धिक विकास से हो सकता है?

आचार्यश्री : बुद्धि से 'लेफ्ट हेमिस्फियर' (बायां पटल) जागृत होता है। मस्तिष्क के 'राइट हेमिस्फियर' को जागृत करने के लिए ध्यान का प्रयोग, नाड़ीतंत्रीय संतुलन का प्रयोग जरूरी है।

आचार्यश्री आगे स्पष्ट करते हैं कि—

'यह नियम है कि शरीर के जिस भाग पर ध्यान करते हैं, वह विकसित हो जाता है। जहां-जहां प्राणधारा का प्रवाह जाता है, वह भाग सक्रिय हो जाता है।'

राष्ट्रपतिजी की चिंता विद्यार्थियों की तनाव और डिप्रेशन (अवसाद)-ग्रस्तता तथा मंदबुद्धि (अविकसित मस्तिष्क वाले) बच्चों के लिए अधिक थी। राष्ट्रपतिजी बताते हैं—उनके निर्देशन में की जाने वाली शोध में मंदबुद्धि बच्चों और विकसित बच्चों की तुलना में उनकी शरीर-रचना में कोई अंतर नहीं पाया गया। अविकसित बच्चों के 'लेफ्ट हेमिस्फियर' में 'न्यूरोन' की संख्या कम पाई गई। 'न्यूरोन कनेक्शन' भी कम थे। वे प्रश्न करते हैं—

क्या 'राइट हेमिस्फियर' को जागृत करके 'लेफ्ट हेमिस्फियर' की कमी को पूरा कर सकते हैं? शरीर, मन, बुद्धि और चेतना—इन चारों को कैसे जगाएं?

आचार्यश्री महाप्रज्ञ का उत्तर है—

इसमें प्राण और भाव और जोड़ने होंगे। आगे वह मस्तिष्क के तीन भागों का जिक्र करते हैं—(1) हायर कांशियस माइंड (2) अनकांशियस माइंड (3) कांशियस माइंड। इससे आगे 'चेतना' की व्याख्या करते हैं। कांशसनेस (चेतना) के गंभीर तत्त्व होने को रेखांकित करते हुए वे राग-द्वेष से परे, 'मैं और मेरा' से परे, वीतरागता की साधना की बात करते हैं। इसकी साधना प्रज्ञा, प्रातिभ ज्ञान अथवा अंतर्दृष्टि का जागरण करती है।

इस महत्त्वपूर्ण साक्षात्कार में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी वैज्ञानिक आधार पर ध्यान योग, प्रेक्षाध्यान, कायोत्सर्ग आदि प्रयोगों का जिक्र करते हैं और बताते हैं कि ये अध्यात्म के विज्ञानाश्रित प्रयोग हैं। बहुत स्पष्ट शब्दों में महाप्रज्ञजी कहते हैं कि 'आज का व्यक्ति धार्मिक है, पर आध्यात्मिक नहीं।' यहां मनुष्य के भाव-संकुल के रूपांतरण

पर जोर है, चेतना के उत्तरोत्तर विकास पर भी। चेतना शब्द का जिस कदर अवमूल्यन तथा गलत प्रयोग छोटी-छोटी बातों के लिए किया जा रहा है, उसने चेतना के आध्यात्मिक तत्त्व को घटा दिया है। आध्यात्मिक विकास में चारित्रिक रूपांतरण लक्ष्य रहता है। मुख्य बात है अति आसक्ति को नियंत्रण में लाना या उसे अनासक्ति के जरिए संतुलन में रखना। यह शक्ति 'भावों' के रूपांतरण और शोधन से प्राप्त हो सकती है, जिसके लिए आसन, प्राणायाम, प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा और संकल्प के प्रयोग आवश्यक हैं। कायोत्सर्ग द्वारा शरीर की चंचलता कम होती है, निर्विचारता, निर्विकल्पता की साधना होती है। कायोत्सर्ग और योग के शवासन में आधारभूत फर्क है। कायोत्सर्ग में शरीर-शिथिलीकरण के बावजूद आत्म-सुझाव (ऑटोसजेशन) द्वारा चेतना जागृति में संकल्प की गुंजाइश रहती है। यहां 'अवचेतन' मन में सुझाव पहुंचता है जो स्थाई कारक बनता है। इसे हम साधारण भाषा में गहराई में अधिष्ठित चेतना-स्रोत कहते हैं। यह मस्तिष्क में ही होता है जिसको 'हायर कांशियस माइंड' (उच्च चेतन मस्तिष्क) कहा जाता है। महर्षि अरविंद ने भी इसकी महत्ता की ओर संकेत किया है।

हम आध्यात्मिकता की सही अवधारणा को समझें और इसका धर्म से घालमेल नहीं करें। शिक्षा में इसका प्रयोग किया जाना चाहिए। किशोर पीढ़ी को सुसंस्कारित करने के लिए ही नहीं, बल्कि प्रौढ़ों के लिए भी आवश्यक है—चाहे कोई व्यापारी हो, धर्म-संस्थान के गुरु हों, चाहे मध्यमवर्गीय सेवारत परिवार या फिर राजनीतिज्ञ—जिन्होंने चरित्र को गौण कर रखा है और क्षुद्रता में आकंठ फंसे हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का निम्न कथन महत्त्वपूर्ण है :

हिंदुस्तान के वैचारिक पतन और मानसिक गुलामी का यदि कोई बड़ा कारण है तो वह है कोरा पूजावाद, आचारशून्य पूजावाद। इस भक्तिवाद ने, इस कोरे कर्मकांड और कोरी उपासना ने हिंदुस्तान के चरित्र का जितना पतन किया, उतना शायद नास्तिकों ने भी नहीं किया (जैन भारती : नवंबर, 1999)।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ सिर्फ एक प्रज्ञावान आध्यात्मिक योगी नहीं हैं, उनकी 'परमता' इस दृष्टि से भी है कि वह दर्शन को कोरा तर्कशास्त्र नहीं मानते, जिसमें मंडन-खंडन की परंपरा रही है। वह इसे जीवन की ठेठ और ठोस समस्याओं से भी जोड़ते हैं :

विज्ञान जगत में जिन सूक्ष्म नियमों की खोज हुई है, उनका दार्शनिक दृष्टि से अंकन करना बहुत जरूरी है। गरीबी, शोषण, अपराध, बीमारी, हत्या, आत्महत्या, भ्रूणहत्या, आतंकवादी मनोवृत्ति—क्या ये दर्शन के चिंतन-बिंदु नहीं हैं (जैन भारती : सितंबर, 2001, पृ. 29)।

तेरापंथ और जैन धर्म के शीर्ष-पुरुष होने के नाते यह स्वाभाविक है कि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के चिंतन का आधार जैन दर्शन हो। हर दार्शनिक व चिंतक का जब एक केंद्रक (न्यूक्लियस) विकसित हो जाता है तो उसी के प्रकाश में वह उच्चतर समस्याओं का समाधान संकेतित करता है और समय की यथार्थ जटिलताओं का सामयिक समाधान भी खोजता है। दार्शनिक चिंतन वायवीय चिंतन नहीं होता है। यह युग की चिंताओं में से ही प्रस्फुटित होता है और व्यावहारिक जीवन का मार्गदर्शक भी होता है। इसमें आचरण की नैतिकता भी अनुस्यूत है।

हमें आध्यात्मिकता के तत्त्व को भी समझने की आवश्यकता है। अधिकतर इसको किसी भी धर्म के साथ जोड़कर ही देखा जाता रहा है। आज के समय में चूंकि धर्म अनावश्यक माना जाने लगा है, और इसका कर्माडंबर दिखावे की चीज बन गया है, इसलिए आध्यात्मिकता का 'तत्त्व-सत्त्व' भी उपेक्षा पा रहा है। हमारे देह विज्ञान और मनोविज्ञान ने इंद्रियों, मन, बुद्धि, संवेग, स्मृति, अवधान आदि की व्याख्याएं तो कर दीं और मनोवृत्ति, आदत, मनोरोगों के अध्ययन तक भी गंभीरता से पहुंच गए, पर उस अंतश्चेतना तथा आत्मा के स्वरूप और शक्तिस्रोत को विश्लेषित नहीं कर सके जो मनुष्य का सबसे मूल्यवान तत्त्व है। गोकि अंतश्चेतना और आत्मा का शाब्दिक प्रयोग हम बात-बात में करते हैं। आध्यात्मिकता का संबंध इन दो शब्दों से संबद्ध है। चेतना का अर्थ भी हम सामान्य प्रयोग में किसी वस्तु अथवा समस्या के प्रति जागरूकता अथवा ध्यान में आने-भर तक सीमित मानते हैं।

जबकि चेतना के जागरण का अभिप्राय है—हमारा वह ज्ञान, जो आवरणों तथा मिथ्यादृष्टि पर ठहरा है और उसी के तहत हम क्रियाशील हैं, उसकी स्वरूपगत सही जानकारी पाना। इस जानकारी (चेतना) से ही हम अपनी उन क्षमताओं और शक्तियों को जान पाते हैं, जो हमारे व्यक्तित्व को बेहतर, और बेहतर बनाती हैं। हमें संतुलन में रखकर हमसे ऐसा आचरण करवाती हैं जिसमें हम अपने को विकसित तथा हर परिस्थिति में अपेक्षतया सधा हुआ पाते हैं, इसी से अपने पर हमारा विश्वास दुगुना हो जाता है। यह आत्म-साक्षात्कर से ही संभव होता है। इसी से हम अपने दोषों, अपनी कमजोरियों पर काबू पाते हैं और उनसे मुक्त होते हैं। आध्यात्मिकता का मानक क्या अपने श्रेष्ठतम को पाना ही नहीं है?

इससे पहले कि भिन्न-भिन्न दर्शनों पर आधारित 'धर्मसम्मत अध्यात्म' या 'साधनापरक अध्यात्म' पर विचार करें, हम यह जानने का प्रयास करें कि आज संदेह, शंका, आशंका, अविश्वास, पर-निंदा व्यापक तौर पर युग-प्रवृत्ति क्यों बन गए हैं? यह न तो बौद्धिकता के कारण है, न विज्ञान की देन है और न हमारी स्वार्थपरता की वजह से है। तब ये हमारी सामान्य प्रवृत्ति क्यों बने हुए हैं? हमारी निष्ठा कहीं भी टिकती क्यों नहीं? इतना ही नहीं, हम अपने संबंध में संशय-ग्रस्त, अनिश्चितताग्रस्त, आत्म-विश्वासहीन क्यों हो गए हैं?

इसका एकमात्र उत्तर यदि मिलता है तो यह कि बाहरी शक्तियां आक्रामक हैं। या फिर दूसरी दृष्टि से उत्तर हो सकता है—हम अपने को, अपने व्यवहार को नहीं देखते, दूसरों को देखते हैं। सराहना भी करते हैं तो ईर्ष्या के साथ, दूसरों के दोषों को बड़ी तत्परता से बखानते हैं।

कदाचित आत्म-साक्षात्कार से अपने दोषों को छोड़ना ही उपचार हो सकता है। आत्म-साक्षात्कार से ही हम अपने पर संयम रख सकते हैं, इसी से आत्म-विश्वास विकसित हो सकता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की आध्यात्मिक साधना का केंद्रक है—'योग'। उच्चतर स्थिति अर्जित करने के लिए वे वीतराग अवस्था पर जोर देते हैं। राग-द्वेष से परे होकर आसक्तिविहीन होना, ममकार—जो कि अहंकार को स्थाई रखता है, उससे छुटकारा पाना, आत्मा—जो कि अनंत आनंद, अनंत शक्ति से संपन्न और अनंत ज्ञान का स्वरूप है (और यह देह के माध्यम से ही अपना वास्तविक स्वरूप पा सकती है), उससे तादात्म्य स्थापित होने की स्थिति पाने के लिए धीरे-धीरे चेतना को 'सूक्ष्मतर' तक विकसित करना—यह विलय नहीं है, तादात्म्य का स्तर है।

इस संबंध में यही कहा जा सकता है कि यह व्यक्ति की अपनी ही उपलब्धि होती है। इसकी अनुभूति भी उसकी ही होती है। इसका न तो कोई माप हो सकता है, न मानक और यह भी कि यह आंतरिक यात्रा है जिसके कई स्तर हो सकते हैं—पड़ाव हो सकते हैं; पूर्णता में यह भी प्राप्त नहीं हो सकती। हर आदर्श दूसरे छोर पर होता है जिसे 'समम बोनम' कहा जाता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के चिंतन का दूसरा केंद्रक (न्यूक्लियस) अनेकांत दृष्टि है। इसी के कोण से वे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा वैश्विक समस्याओं का समाधान प्रस्तावित करते हैं। अनेकांत दृष्टि का मुख्य बिंदु है—सापेक्षता, समन्वय तथा सह-अस्तित्व की तलाश। क्योंकि हर स्थिति, हर विचार, हर संवेग-संकुल की प्रतिस्थिति भी रहती है, विधेयात्मक प्रयासों की प्रतिरोधक शक्ति, निषेधात्मक मान्यताएं, संस्कार भी रहते हैं और हर व्यक्ति अहिंसक वातावरण में रहकर, आवश्यक सुविधाओं को प्राप्त करते हुए शांति से ही जीना चाहता है। लेकिन अपने पर नियंत्रण न होने के कारण आवेश में, प्रमाद में तथा विवेक-क्षय के कारण तनाव (क्रोध) में, लोभ में, अहं में ऐसे कृत्य कर गुजरता है जो बुनियादी रूप में वह स्वयं भी नहीं चाहता। प्रश्न यही है कि हम सिद्धांत और शब्द-मोही तो हैं, पर अपनी करनी में स्थिर तथा प्रामाणिक नहीं रह पाते। मूल्यों की पैरवी करते हैं, लेकिन हमारा कर्तृत्व उनके अनुकूल नहीं हो पाता। इसका कारण क्या है? क्या हमारी महत्त्वाकांक्षा? क्या वर्चस्व पाने और बनाए रखने की हमारी प्रतियोगी मानसिकता? निश्चय ही, हमारे व्यक्तित्व तथा चारित्रिक दरारों को ऐसे दर्शन की अपेक्षा है जो हमारी मान्यताओं, हमारे संस्कार-संकुलों व भाव-जगत में आध्यात्मिक दृष्टि से परिवर्तन ला सके। अनेकांत दृष्टि समन्वय, सापेक्षता तथा सह-अस्तित्व को प्रस्तावित करती अवश्य है, पर आग्रही-अंश को यह दृष्टि भी जस-का-तस छोड़ देती है। वही तो अंश ऐसा है जो क्षणिक प्रतिकूल अवस्था में विस्फोटक हो जाता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की यह धारणा सही है कि शिक्षा में ध्यान, कायोत्सर्ग, 'सजेशन', 'ऑटोसजेशन' के प्रयोग किए जाने चाहिए। इसमें युवा पीढ़ी और प्रौढ़ पीढ़ी को भी छोड़ा कैसा जा सकता है? अनुकरणात्मक मानसिकता यही तो जकड़ लिए हुए है। इसका सीधा-सा मतलब है कि एक सांस्कृतिक क्रांति की आवश्यकता है। या तो इस सांस्कृतिक क्रांति को यथोचित विस्तार, समर्थन, स्वीकृति और निष्ठा प्राप्त हो, अन्यथा वर्तमान परिस्थितियां स्वयं ही सबक सिखा देंगी। बात विश्वशांति की हो, चाहे राष्ट्रीय गति-प्रगति की, सामाजिक सृजनात्मकता की हो, या पारिवारिक शांति की—यह सब मनुष्य के संस्कार-शुद्धि और भाव-शुद्धि पर ही निर्भर है। हम पशुओं के 'समाज' नहीं हैं, मानवीय समाज हैं। विकास की अवधारणा हमारी क्या है, इस पर सब-कुछ निर्भर करता है। चेतना और आध्यात्मिकता का सही अर्थ जानें और अपने आचरण को प्रामाणिक बना सकें, इसी में समय-सिद्धि निहित है—स्व-सिद्धि भी।

आशान्वित होना तथा परिवर्तन में विश्वास रखना मानवीय स्वभाव है। मानवीय विकास की गति का इतिहास इसका साक्ष्य है; बावजूद चढ़ाव, ठहराव, उतार के। ❖

5 जून : विश्व पर्यावरण दिवस

पर्यावरण, अहिंसा और संयम

मुनि रमेशकुमार

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई औद्योगिक क्रांति के बाद से अब तक वायुमंडल में कार्बनडाई आक्साइड की मात्रा में 25 प्रतिशत, मीथेन गैस की मात्रा में सौ प्रतिशत और नाइट्रोजन आक्साइड की मात्रा में 18 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। वातावरण के तापमान में हो रही वृद्धि के लिए ये गैसें मुख्यतः जिम्मेदार हैं। अंटार्कटिका पर किए गए अनुसंधानों से पता चला है कि दो सौ वर्ष पूर्व तक वायुमंडल की स्थिति संतुलित थी। औद्योगिक क्रांति के बाद वायुमंडल-संरचना में भारी बदलाव आया है। वातावरण को गर्म करने वाली गैसों का अनुपात बढ़ा है। कार्बनडाई आक्साइड आदि गैसों का अनुपात बढ़ने से वायुमंडल में 'ग्रीन हाऊस' प्रभाव पैदा होता है, जिससे वातावरण का तापमान बढ़ जाता है।

सुरक्षा-कवच में छिद्र

पृथ्वी के वायुमंडल में अवस्थित सुरक्षा-कवच 'ओजोन' की परत में छिद्र हो रहे हैं। आधुनिक विज्ञान की मान्यता के अनुसार आक्सीजन के एक अणु में दो परमाणु विद्यमान होते हैं। वहीं ओजोन में तीन परमाणु विद्यमान होते हैं। इन्हीं अणुओं से ओजोन का निर्माण होता है। यह ओजोन एक परत यानी सुरक्षा-कवच के रूप में पृथ्वी के चारों ओर उसकी गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण तना हुआ है। पृथ्वी से लगभग 15-20 किलोमीटर की ऊंचाई से 55 किलोमीटर की ऊंचाई तक यह सुरक्षा-कवच विद्यमान है। यह स्फटिक के समान पारदर्शी है। वैज्ञानिक भाषा में इसे 'ओजोनस्फियर' कहते हैं। सूर्य से आने वाली पराबैंगनी किरणों के अवशोषण की इसमें अद्भुत क्षमता है। अपने इसी गुण के कारण यह प्राणी-जगत को जीवित रखने में वरदान सिद्ध हुई है। इसके सछिद्र होने से पराबैंगनी किरणें पृथ्वी की सतह पर पहुंचकर चर्म-कैंसर एवं अंधेपन जैसी बीमारियों का कारण बनेंगी। फसलों का उत्पादन भी प्रभावित होगा। वह क्रमशः घटता जाएगा। विभिन्न प्रयोगशालाओं में किए गए अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि पराबैंगनी किरणों के दुष्परिणाम विश्वव्यापी होंगे एवं संपूर्ण जीव-जगत इससे प्रभावित होगा।

भगवान महावीर ने कहा था—देखो! वनस्पति दूसरे जीवों की अपेक्षा तुम्हारे अधिक निकट है। पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु आदि के जीवों को समझना कठिन है, किंतु वनस्पति को समझना आसान है। तुम इसे समझो, इस पर मनन करो। मनन कर अभयदान दो। आज वैज्ञानिकों ने अपने उपकरणों के द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि वनस्पति में क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष आदि के संवेदन होते हैं। हमारे मन में वनस्पति के प्रति प्रेम, करुणा, सहृदयता के भाव होने चाहिए तभी इसकी सुरक्षा संभव है।

ओजोन की परत के क्षय होने के कुछ विशेष कारण हैं। उन कारणों में प्रमुख कारण है व्यक्ति का भौतिकवादी दृष्टिकोण एवं सुख-सुविधा प्रधान जीवन-शैली। वैज्ञानिक विश्लेषण के अनुसार ओजोन परत को विघटित करने वाला रसायन है क्लोरोफ्लोरो कार्बन (सी. एफ. सी.)। यह रसायन दैनिक जीवन में सुख-सुविधाओं के उपकरणों में प्रयुक्त होता है, जैसे—एयर-कंडीशनर, फ्रीज और विभिन्न प्रकार के ऐरोसोल आदि। अग्निशामक यंत्रों, कीटनाशक दवाइयों, इलेक्ट्रोनिक्स उपकरणों एवं उद्योगों में काम आने वाले अनेक रसायन भी ओजोन परत के क्षय होने के लिए कम उत्तरदाई नहीं हैं और इनके अतिरिक्त हाइड्रोक्लोराइड कार्बन (एच. सी. एफ. सी.) कार्बन टेट्राक्लोराइड (सी. टी. सी.) हेलोंस मिथाइल क्लोरोफार्म आदि रसायन भी ओजोन परत को नुकसान पहुंचाने में सक्षम हैं। एयर-कंडीशनर में प्रयुक्त

होने वाली फ्रियान 11, फ्रियान 12 गैसें ओजोन के लिए अत्यंत घातक हैं। इन गैसों का एक अणु ओजोन के एक लाख अणुओं को आसानी से नष्ट कर सकता है। तात्पर्य यह है कि सुख-सुविधाओं के आधुनिक उपकरण पर्यावरण-सुरक्षा के परिप्रेक्ष्य में अत्यंत घातक हैं।

नाभिकीय विस्फोट :

पर्यावरण के असंतुलित होने का एक कारण नाभिकीय विस्फोट भी है। यदि कभी नाभिकीय विस्फोटजनित अणुयुद्ध हुआ तो सृष्टि संरचना में बदलाव आ जाएगा। तापमान कहीं कम और कहीं ज्यादा हो जाएगा। हिमखंड पिघलने लगेंगे, जिससे समुद्र का जल-स्तर बढ़ जाएगा। चारों ओर पानी-ही-पानी हो जाएगा। प्रलय की-सी स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।

नाभिकीय विस्फोट से जो दृश्य उत्पन्न होगा, उससे करीब-करीब मिलता-जुलता उल्लेख जैनागम 'भगवती सूत्र' में प्राप्त होता है। यद्यपि यह वर्णन परमाणु युद्ध का नहीं है। जैन काल-गणना के अनुसार छठे काल खंड का उल्लेख है। उस समय विश्व विचित्र स्थितियों से गुजरेगा। समवर्तक वायु चलेगी। यह वायु इतनी तीव्र गति और वेग से चलेगी कि पहाड़ भी प्रकंपित हो जाएंगे, आकाश धूल से आच्छादित हो जाएगा। चंद्रमा अति ठंडा एवं सूर्य के अति गर्म हो जाने से तीव्र सर्दी एवं गर्मी का वातावरण निर्मित होगा। वर्षा बीमारियां बढ़ाने वाली होगी।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के विचारों के अनुसार इस वैज्ञानिक युग में भगवती सूत्र में वर्णित बातें सत्य हो रही हैं। पांचवें काल खंड की अवधि इक्कीस हजार वर्ष है। कहीं काल की उदीरणा न हो जाए। इक्कीस हजार वर्ष के बाद आने वाली स्थिति, इक्कीसवीं शताब्दी में ही न आ जाए? क्योंकि वैज्ञानिक घोषणा है कि इक्कीसवीं शताब्दी का मध्य दुनिया के लिए भयंकर कष्टदाई होगा। संभव है, काल की उदीरणा हो जाए। काल कर्म की उदीरणा में निमित्त बनता है तो हो सकता है, कर्म भी कभी-कभी काल की उदीरणा में निमित्त बन जाए।

अहिंसा और संयम को हम अपनी जीवन-शैली में अपनाकर, पर्यावरण संकट से बच सकते हैं। यद्यपि अहिंसा और संयम एक ही वस्तु के दो रूप हैं। संयमित जीवन-शैली के साथ अहिंसा और असंयमित जीवन-शैली के साथ हिंसा जुड़ी रहती है। एक संसारी व्यक्ति पूर्ण अहिंसक नहीं हो सकता, इसलिए भगवान महावीर ने हिंसा को दो रूपों में प्रस्तुत किया है। अर्थहिंसा एवं अनर्थहिंसा। एक गृहस्थ पूर्ण रूप से अहिंसक नहीं हो सकता। उसे जीवन-यापन करने के लिए हिंसा का सहारा लेना पड़ता है। उसे अर्थहिंसा (आवश्यक हिंसा) कहा है। इसे न छोड़ सकें तो अनर्थहिंसा (अनावश्यक हिंसा) को छोड़ें। वर्तमान में कथित आधुनिक जीवन-शैली का अधिकांश भाग अनर्थहिंसा से ही जुड़ा हुआ है। उसे छोड़ने से पर्यावरण के विभिन्न घटकों की सुरक्षा हो सकती है।

अहिंसा केवल पारलौकिक ही नहीं है। वह जीवन के हर चरण के साथ जुड़ी हुई है। भगवान महावीर प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने संसार के समस्त जीवों के छह वर्गीकरण किए—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। पृथ्वीकाय में पत्थर, मिट्टी, विभिन्न खनिज पदार्थ आदि का समावेश होता है। अप्काय में पानी, तेजस्काय में अग्नि, वायुकाय में हवा, वनस्पतिकाय में हरियाली, पेड़-पौधे आदि तथा त्रसकाय में पशु-पक्षी, मनुष्य आदि हलन-चलन करने वाले जीवों का समावेश है। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति के जीव एकेंद्रिय कहलाते हैं। वे सूक्ष्म होते हैं। उन्हें हम आंखों के द्वारा नहीं देख सकते। एकेंद्रिय जीव भी सुख-दुख, प्रिय-अप्रिय, हर्ष-शोक आदि का संवेदन करते हैं। यद्यपि उनकी चेतना का विकास अत्यल्प होता है तथापि हम उनके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं कर सकते। उनके अस्तित्व को अस्वीकार करने का अर्थ है—अपने अस्तित्व को अस्वीकार करना। पर्यावरण की सुरक्षा वही कर सकता है जो जंगम और स्थावर, दृश्य और अदृश्य, सूक्ष्म और स्थूल जीवों के अस्तित्व को स्वीकार करता है।

अहिंसा और संयम को हमें व्यावहारिक रूप में स्वीकार करना होगा। अहिंसा का आधार आत्मा है। मनुष्य की आत्मा और एकेंद्रिय आदि जीवों की आत्मा एक समान है। जैसे मनुष्य सुख-दुख की अनुभूति करता है, वैसे ही सब प्राणी सुख-दुख की अनुभूति करते हैं। इसलिए मुझे किसी प्राणी को पीड़ित नहीं करना चाहिए, सताना नहीं चाहिए, उसका अधिकार नहीं छीनना चाहिए, उसे मारना नहीं चाहिए—ऐसे विचार आने से जीवन में अहिंसा और संयम का विकास हो सकता है। इस छह जीव-निकाय को व्यक्ति अपनी आत्मा के समान समझे। सभी प्राणियों के साथ मित्रता का व्यवहार करे।

पानी, हवा और वनस्पति पर्यावरण-संरक्षण के प्रमुख घटक हैं। आज ये तीनों प्रदूषित हैं। पीने के लिए शुद्ध पानी नहीं है, श्वास लेने के लिए शुद्ध प्राणवायु नहीं है। जंगलों को नष्ट किया जा रहा है। प्रतिदिन बड़े पैमाने पर औद्योगिक रसायनयुक्त कचरा, मनुष्य का मल एवं शवों को

नदी में फेंका जा रहा है, जिससे नदियों का पानी विषाक्त हो रहा है। दूसरी ओर घरों में पानी का असीमित उपयोग हो रहा है। पानी का मूल्य नहीं समझा जा रहा है। पर्यावरण-संरक्षण की दृष्टि से यह नितांत अपेक्षित है कि व्यक्ति पानी के मूल्य को समझे एवं उसका दुरुपयोग बंद करे।

साबरमती आश्रम के सुरम्य वातावरण में बैठे महात्मा गांधी ने अरुणोदय की पावन बेला में काका कालेलकर से कहा, 'एक लोटा पानी लाओ।' कालेलकरजी पानी लेकर आए। गांधीजी ने उस एक लोटे पानी से हाथ साफ किए, मुंह धोया, पैरों का प्रक्षालन किया और बचे हुए पानी से तौलिए को धो लिया। इसे देखकर काका कालेलकर से रहा नहीं गया। उन्होंने गांधीजी से कहा, 'बापू आपके सामने विशाल साबरमती नदी बह रही है और आप पानी की इतनी कंजूसी करते हैं!' गांधीजी ने कहा, 'साबरमती नदी पर मेरा एकाधिकार नहीं है, देश के करोड़ों व्यक्तियों का अधिकार है। यदि मैं अपनी आवश्यकता से ज्यादा पानी का उपयोग करता हूं तो मुझे चोरी लगती है।' गांधीजी के जीवन का यह प्रसंग हमें संयमयुक्त आचरण की ओर प्रेरित करता है। कहां गांधीजी के आदर्श और कहां आज के लोगों की वर्तमान जीवनचर्या! दैनिक क्रियाकलापों में भी संयम को यथोचित स्थान नहीं है।

पानी का नल खुला है, हम दंत-मंजन कर रहे हैं। कितना पानी बेकार चला जाता है—नल को बंद कर पानी को बचा सकते हैं। आम आदमी की धारणा है कि शरीर पर ज्यादा पानी डालने से अच्छा स्नान होता है, लेकिन वास्तविकता यह है कि घर्षण से अच्छा स्नान होता है। घर की साफ-सफाई में आज पानी का बहुत ज्यादा अपव्यय हो रहा है। भूमिगत जल के अंधाधुंध दोहन के कारण पानी कम होता जा रहा है। भू-वैज्ञानिक चेतावनी दे रहे हैं कि आगामी 25 वर्षों में जल-संकट का सामना करना पड़ेगा। अधिक दोहन के कारण जल-स्तर नीचे जा रहा है। सीमा-लंघन का परिणाम अंततः दुखद ही होता है।

श्वास लेने के लिए आज शुद्ध प्राणवायु (आक्सीजन) भी नहीं है। वायु-प्रदूषण भी एक ज्वलंत समस्या के रूप में उभरकर सामने आ रहा है। पर्यावरण-संबंधी एक संस्था 'यूनेप' के एक अध्ययन के अनुसार पैदा होने वाली कुल कार्बनडाई आक्साइड की कार्बन चक्र में लाने की पृथ्वी की क्षमता कम पड़ रही है। यदि कार्बनडाई आक्साइड के बढ़ने का यही क्रम रहा तो कुछ ही वर्षों में पृथ्वी पर इसकी मात्रा दुगुनी हो जाएगी।

पर्यावरण-संतुलन बनाए रखने में वनस्पति एवं जंगल अनेक दृष्टियों से वरदान सिद्ध हुए हैं। मनुष्य-जीवन वनस्पति पर आधारित है। उससे जीवन की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। वनस्पति एवं वन के विनाश से संस्कृति एवं सभ्यता का विनाश संभव है। भारत की संस्कृति तो आरण्यक संस्कृति रही है। अरण्य में साधना करके ही ऋषि-महर्षियों ने मानव-समाज का उत्थान किया।

पृथ्वी पर उपलब्ध वनस्पति के आवरण को आज का मानव नष्ट करता जा रहा है। सन् 1947 में जहां हिमालय पर्वत के 64 प्रतिशत भाग में वन आच्छादित थे, वहीं अब सिर्फ 33 प्रतिशत भाग में ही वन आच्छादित हैं। चाणक्य के समय में अरावली पर्वतमाला के 80 प्रतिशत भाग में वन थे, किंतु अब सिर्फ 6 प्रतिशत भाग में वन शेष बचे हैं।

जैन आगमों में वनस्पतिकाय जीवों का एक स्वतंत्र अस्तित्व माना है। भगवान महावीर ने आचारांग सूत्र 1/91 में मनुष्य और वनस्पति की आपस में जो समानताएं बताई हैं, वे आज वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा प्रमाणित हो चुकी हैं। उन्होंने कहा, 'मनुष्य जन्मता है, वनस्पति भी जन्मती है। मनुष्य बढ़ता है, वनस्पति भी बढ़ती है। मनुष्य चैतन्ययुक्त है, वनस्पति भी चैतन्ययुक्त है। मनुष्य छिन्न-भिन्न होने से क्लांत होता है, वनस्पति भी छिन-भिन्न होने से क्लांत होती है। मनुष्य आहार करता है, वनस्पति भी आहार करती है। मनुष्य अनित्य है, वनस्पति भी अनित्य है। मनुष्य उपचित और अपचित होता है, वनस्पति भी उपचित और अपचित होती है। मनुष्य विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होता है, वनस्पति भी विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होती है।

भगवान महावीर ने कहा था—देखो! वनस्पति दूसरे जीवों की अपेक्षा तुम्हारे अधिक निकट है। पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु आदि के जीवों को समझना कठिन है, किंतु वनस्पति को समझना आसान है। तुम इसे समझो, इस पर मनन करो। मनन कर अभयदान दो। आज वैज्ञानिकों ने अपने उपकरणों के द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि वनस्पति में क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष आदि के संवेदन होते हैं। हमारे मन में वनस्पति के प्रति प्रेम, करुणा, सहृदयता के भाव होने चाहिए तभी इसकी सुरक्षा संभव है।

प्रदूषित पर्यावरण का यह खतरा असंयमित जीवन की देन है। संयमशून्य जीवन-शैली के कारण प्रदूषण का खतरा बढ़ा है। हम संयम के मूल्य को समझें। असंयम अपने-आप में एक बीमारी है, जिससे आज के समाज का

बहुलांश आज भी पीड़ित हैं। इसका इलाज संयमरूपी दवा से ही संभव है। संयम के द्वारा प्रतिरोधक शक्ति का निर्माण होगा और पर्यावरण अपने-आप स्वच्छ हो जाएगा। यदि संयमरूपी दवा का मूल्यांकन नहीं किया गया तो यह प्रदूषण का खतरा बढ़ता ही जाएगा। पर्यावरण के संकट का समाधान संयम और अहिंसा से संभव है। संयम और अहिंसा पारलौकिक ही नहीं हैं, वर्तमान जीवन के साथ भी जुड़ी हुई हैं। व्यक्ति की इच्छाएं, कामनाएं और लालसाएं जहां असीमित हैं, वहीं पदार्थ सीमित हैं। उन पर केवल मनुष्य का ही नहीं, संपूर्ण जीव-जगत का अधिकार है। पर्यावरण-संतुलन के लिए मानव जाति का यह दायित्व है कि वह अपनी जीवन-शैली को संयम की ओर अग्रसर करे। भोगवादी संस्कृति के मलिन पक्षों पर अंकुश लगाए। विलासी जीवन के लिए प्रकृति से छेड़खानी करना बंद करे, तभी पर्यावरण-संतुलन एवं जीवमात्र का अस्तित्व सुरक्षित रह सकता है। ❖

यह भली-भांति ज्ञात तथ्य है कि भारत के प्राचीनतम दर्शन ने ब्रह्मांड की व्याख्या अनेक अति प्राकृतिक शक्तियों, जिन्हें देव या ईश्वर कहा जाता था, के माध्यम से की। लेकिन भारतीयों की बढ़ती हुई दार्शनिक जागृति के परिणामस्वरूप शीघ्र ही अनेकतावादी व्याख्या अपर्याप्त प्रतीत होने लगी। और परिणामस्वरूप एक ऐसी चेष्टा की शुरुआत हुई, जिसका उद्देश्य था संसार के इस वैविध्य, संसार की इस अनेकता में निहित एकता की खोज करना था। इस चेष्टा का इतिहास बहुत लंबा है। मंत्रों, ब्राह्मणों से लेकर उपनिषद् काल तक इसे देखा जा सकता है। ब्रह्मांड के इस परमयथार्थ की व्याख्या के लिए कई सिद्धांत प्रकट हुए, इनमें से कुछ मूर्त थे और कुछ अमूर्त—और यद्यपि सिद्धांतों से अनुस्यूत होने वाले लगभग प्रत्येक समाधान को असंतोषजनक मानकर छोड़ दिया गया फिर भी इस चेष्टा और इस खोज को तब तक नहीं छोड़ा गया जब तक एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष नहीं उपलब्ध हुआ और यह निष्कर्ष था उपनिषद् का, आत्मा का सिद्धांत। इस सिद्धांत का केंद्र-बिंदु है कि जो कुछ अस्तित्व में है, वह मूलतः एक ही है और यह भी कि इसका सारभूत रूप मनुष्य के आंतरिक स्व में व्यक्त होता है, बाह्य संसार में नहीं। इस सिद्धांत ने अब तक अपनाए गए दृष्टिकोण के संदर्भ में लगभग एक संपूर्ण क्रांति पैदा कर दी, क्योंकि परमयथार्थ अब पहले की तरह कोई बाहरी चीज नहीं, बल्कि स्वयं मनुष्य के आंतरिक अस्तित्व के समानरूप समझ लिया गया। प्रकृति और मनुष्य के बीच परमघनिष्ठता और कौटुंबिकता की धारणा समूचे भारतीय चिंतन इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण विकास को रेखांकित करती है, फिर भी इस समय मेरा सरोकार उपनिषद् काल में पाए गए सामान्य दार्शनिक समाधान के प्रति नहीं है। मेरी रुचि सिर्फ इसके एक पक्ष पर जोर देने पर है। वह यह कि सामान्य तौर पर जिसे हम यथार्थ समझते हैं, वह स्वयं में अंतिम यथार्थ नहीं है, बल्कि वह अंतिम यथार्थ का एक समरूप-भर है। इंद्रियगोचर संसार विचारों के संसार के समान है और कुछ नहीं, बस उसी परमसत्ता का प्रस्तुतीकरण है। यद्यपि वह उस परमसत्ता की अपूर्ण अभिव्यक्ति है तो भी यदि उसका ठीक तरह से अनुगमन किया जाए तो वह अंतर्निहित एकता का संकेत देने के लिए पर्याप्त है। न तो हमारी इंद्रियां और न ही हमारा मस्तिष्क इस एकता को ग्रहण कर सकता है, लेकिन जितने थोड़े-बहुत अंशों तक वे इसका बोध कर पाते हैं वह इसके वास्तविक अर्थ को प्राप्त करने के लिए तथा स्वयं अपने भीतर उसका साक्षात्कार करने के लिए पर्याप्त है।

—हिरियन्ना

कहानी

प्रार्थना का कवच

श्रीराम वर्मा

अक्सर औरतें आपस में मुक्त भाव से बतियाती-हंसती बड़ी सहज होती हैं। उस समय वे चाहे जैसी भी हों, बड़ी सुंदर लगती हैं। वह सौंदर्य कितना सहज और कितना मुक्त होता है। मोती लुटाता, मुलायम सुबहों और टटके वसंत से घिरता और घेरता—खुला और खिला हुआ। लेकिन ज्यों ही किसी पुरुष को अपनी ओर देखती हैं, उनकी हंसियां बुझ जाती हैं, मुक्ति बंध जाती है, सहजता अचानक गांभीर्य में तब्दील हो जाती है। एक ऐसा संकोच उन्हें आवृत कर लेता है, जिसमें वे अंतःकरण के, आत्मा के सहज आलोक से मानो रहित हो जाती हैं। उनकी आंखों की तरल चमक, मधु और कोमल दीप्ति सहसा कहीं गहरे में क्षण-भर में विलीन हो जाती हैं।

यह एक विषाद का क्षण होता है, जिसमें हम अनायास दोषी हैं, हमारी अवस्थिति मात्र किसी को हठात् अनावृत देख लेने की चेतना से सचेत कर देती है और सहज प्रतिक्रिया की तरह आंचल ठीक करने लगना, मुड़ी आंखों चुप्पी साध लेना, जैसी अनेक क्रियाएं क्षण-भर में ही हो जाती हैं। हम अनावृत-सहज-मुक्त को सहज-मुक्त भाव से देख रहे होते हैं, देखते रहना चाहते हैं कि देखना हो नहीं पाता, सारा आलोक ही बुझ जाता है, विलीन हो जाता है और अनचाहे हम विषाद से घिर जाते हैं।

> मेरे कहने पर उसकी आंखों में सुस्थिरता का भाव आ जाता है। उसकी आंखों में कुछ है, जो द्रवित भी करता है, आस्था भी जगाता है। शायद उन आंखों में वह भाव है, जो मौलिकता और स्वयं के सृजन में पकता है और जिससे जीवित जाति का अंगारवत् साक्षात् होता है। उसकी इस अनाघ्रात लीनता और उसके इस संकल्प-संपन्न कर्म से मुझे यही महसूस होता है।

राह चलते मेरे साथ अक्सर ऐसा हुआ है।

कुछ या कुछ-कुछ ऐसा ही तब होता है, जब 'उससे' एक जिज्ञासु की तरह मैं संवाद की कामना से मिलना चाहता हूं। संवाद या तो हो नहीं पाता या बाधित हो जाता है। मैं प्रायः यह सोचकर संतोष कर लेता हूं कि संवाद का यह भी एक ढंग है, जिसमें आंखों में भागते खरगोश और गिलहरियां दिखाई दें, आदमी लीनता से बाहर आकर गंभीर और सहज हो जाए, वह आदर की सहज अतिरंजना में खड़ा हो जाए और स्वागत के लिए जीवित स्वगत की तरह संपूर्ण ऐसे व्यक्त हो जैसे तृप्ति का सब रस उस मूक भाव में ही हो।

यह सिर्फ संकोच नहीं है, संदर्भप्रेरित अनिवार्य सुरुचि है, जो द्रवित कर देती है, संभ्रम है, जो बाधित कर देता है, यह भी एक क्षण है विषाद का, जिसमें किसी की लीनता को हम सहसा भंग कर देते हैं। और मैंने चाहे-अनचाहे दो-एक बार उसके साथ ऐसा किया है।

और पाया है कि हमारे-उसके बीच एक मौन है निःशब्द, उसी में मैं उसे जान पाता हूं। मुखर होना कठिन है। महसूस होता है, मुखरता में वह जैसे पंखड़ी-पंखड़ी बिखर जाएगा।

उसे मैं आते-जाते या कमरे में अध्ययनडूबा देखता हूं। पहले वह दिख जाता था, अब मैं उसे देखता हूं।

यही वह समय है, जब वह आ रहा होगा; यह वह समय है, जब वह जाता हुआ दिखेगा, और यह, जब वह कमरे में होगा।

मैं उसके सारे समय जान गया हूं।

इस समय क्या समय है, उसकी अस्ति, उसकी गति और उसकी अमूर्त उपस्थिति से मैं अनुमित कर लेता हूं।

क्या मैं उसके समय-जल में डूबी एक बंसी हूं?

वह जानता है या कभी जानेगा, नहीं जानता। पर इस

जानते होने के कारण उसे देखने की इच्छा जग जाती है। जब वह आ रहा होता है, जा रहा होता है, सहज ही देख लेता हूं। लेकिन जब वह कमरे में होता है, देखना चाहकर भी कमरे तक जाने में स्वयं संकोच होता है। और विषाद छेंक लेता है। सोचता हूं, उसे उलझन न हो, वह बाधित न हो, उसकी स्वाभाविकता नष्ट न हो जाए। उसे जासूस की तरह देखने में ही स्वाभाविक देखा जा सकता है। उसे ज्ञात न हो और हम उसे दृष्टि से छेंक लें, छेंके रहें। कई बार मैंने उसे पास से गुजरते देखा है।

और एक बार पास बैठे दोस्त के चश्मे में। लगा है, चलता हुआ वह मेरे ही गीत की कड़ी है—उसी विषाद के नन्हे क्षण की तरह, जो बार-बार लौट आता है।

बांसुरी होने के क्रम में वह क्या एक नन्हा अधर है?

जब से मैं उसे देख रहा हूं, एक सफ़ेद टी-शर्ट में ही वह दिख रहा है। एक नीली पैंट और एक उजली टी-शर्ट। और हां, एक शोलापुरी चप्पल। इसके सिवा कभी कुछ नहीं देखा। उन जाड़ों में भी नहीं, जब चांदनी कुहासे में लिपटी ठंड से मीठी ट्यूबलाइट की रोशनी लगती है।

उसका यह चुनाव कितना बारीक है। टाई की भी जरूरत नहीं।

कमरे में उसकी टी-शर्ट टंगी रहती है। पैंट भी। चप्पल कोने में बिल्ली की पसरी हुई आंखों की तरह पड़ी रहती है। वह चट्टी पहने होता है। एक सादी लुंगी और पूरी बांह की एक बनियाइन। शर्ट की क्रीज कभी ढीली देखी हो, कभी कॉलर तक गंदा देखा हो, याद नहीं आता। चप्पल में जरूर मोचीराम की कारीगरी नजर आई है।

उसके लिए अनजाने ही पूरे शरीर, पूरे हृदय को चीरकर एक रोमांच-पुलकित प्रार्थना, जैसे मेरे हाथ जोड़ती-सी स्वतः सद्य प्रकाशित होती है कि ईश्वर, उसे कष्ट न हो, कि उसका दैन्य, यदि है और वह होगा ही, दूर हो जाए, कम से कम उसे जैसे देखता हूं, अक्षत देखता रहूं और कि उसका उन्नयन हो।

अभी तक उसके कमरे का उसके अनजाने ही निरीक्षण किया है और उसकी मौलिक सूझ-बूझ पर रीझ गया हूं। उसमें इतनी गहरी सुरुचि है कि स्वयं और हठात् उससे ईर्ष्या होती है। वह दैन्य में है, किंतु अनाहत है, जिंदगी में इतना रसा-बसा है कि सदैव ताजा दीखता है; कभी थकता नहीं, ऊबता नहीं।

जब भी वह कमरे में होता है, एक कोमल रोशनी पूरे परिवेश को कोमलतम रंगों में रचे रहती है। उसकी नन्ही मेज पर प्लास्टिक का मेजपोश बिछा होता है, जो पुराना होने पर भी साफ दीखता है। मेज पर ध्यान जब पहली बार गया, यह देखकर थोड़ा आश्चर्य हुआ कि शीशे के जार का ढक्कन वहां किसलिए रखा हुआ है। बाद में और धीरे-धीरे पता चला वह जार का ढक्कन पहले रहा होगा, अब वह उसका पेपरवेट है।

चीजें उपयोग से अपना नाम बदल लेती हैं। और यह आदमी के क्रांतिकारी विवेक से, संकल्पी निर्णय से संभव होता है, बड़े स्तर पर वह जितना सत्य है, छोटे स्तर पर भी उतना ही सत्य है। मुझे विश्वास है, ढक्कन को पेपरवेट बना देने वाला दिमाग कुंठित नहीं होगा, अकुंठित उन्नयन तक जाएगा, निश्चय ही जाएगा।

उसकी मेज के सामने कच्ची दीवार में एक छेद है, जिसमें नल का पाइप है, टूटी टोंटी वाले नल में प्लास्टिक का पाइप डालकर कमरे की दूसरी दीवार में घुसेड़कर उस पार कर दिया गया है। शायद इस तरह टूटे नल से पानी अंदर ही ले लेना सुकर है और कमरा सीलन और कीचड़ से बचा रह सकता है। मेज के बगल एक शीतल पाटी बिछी है, जिस पर एक पुराना कंबल, एक दरी और एक चद्दर पड़े हैं। करीने से। कुछ इस तरह जैसे वह कालीन, यू-फोम और सोफा-सेट की क्षति-पूर्ति हो। मेज पर कुछ कागज, किताबें, एक डायरी और कुछ चिट्ठियां पड़ी रहती हैं। चिट्ठियों की संख्या कभी-कभी बढ़ जाती दिखती हैं।

इधर उसका कमरा दीखता नहीं, सिर्फ उसकी झलकियां देखी जा सकती हैं। उसने किसी तरह जार्जेट की साड़ी का पर्दा बना लिया है, पर्दा हवा में जब हिलता है, नीली चमकती मर्करी जैसी लहरियां दिखती हैं।

उपयोग की चीजें भी व्यवस्था में सजावट प्रतीत होती हैं। पर्दे के हिलते वे झांकियां बन जाती हैं।

वह जहां है—दूर तक घमोय का कांटेदार मैदान है।

मैं अक्सर आरामकुर्सी पर पसरा पड़ा रहता हूं और सामने दृश्यावलियां देखता रहता हूं। देखना न भी चाहूं तो दिखती रहती हैं। लेकिन कई दिनों से उसे नहीं देख रहा। उसके कमरे का सामने से दिखता पर्दा भी नहीं हिलता। शायद कमरा बंद है। वह कहीं चला गया है। शायद जल्दी में

पर्दा अंदर करना भूल गया है। अब पर्दा ही उसकी उपस्थिति है।

कई दिनों बाद पर्दा फिर हिल रहा है। फिर मर्करी की लहरियां हवा में हैं। फिर चीजें उपयोग से सजावट और सजावट से झांकियों में बदल रही हैं। लेकिन आज वह अध्ययनडूबा लीन अगाध नहीं है। रोशनी के कोमलतम रंगों में आज कंप है और स्वेद है उसके चेहरे पर। और मैं उसके द्वार पर खड़ा हूं।

वह मर्करी की लहरियों पर छपी मेरी उपस्थिति को भांप लेता है। द्वार तक आता है, नमस्कार करता है, उसकी बड़ी-बड़ी आंखों में आदमकद आईने घूम रहे हैं और लाखों उजले खरगोश दुबकते-उछलते भाग रहे हैं। उसके कंठ से ओठों पर आकर एक 'आइए' फूट पड़ता है। मैं अंदर जाता हूं। उसके कमरे में एक नई कुर्सी है और उसके हाथ में सैंडपेपर का एक टुकड़ा, जिसकी परछाईं मेरे पैरों के नीचे पसरी मेरी बौनी छाया से बड़ी है।

मेरी आंखों के भाव को तौलता वह बोल पड़ता है : आज ही खरीदा है। अब चमका रहा हूं।

क्यों, वे लोग खुद वार्निश करके नहीं बेचते?—पता नहीं, मैंने सोचा या आंखों में व्यक्त हो गया या ओठों पर हिल गया। उत्तर मिला, यह जरूर याद है। उसने कहा : क्यों नहीं, पर उनका काम बनाकर बेचना है न, चमकाना तो नहीं। मैं देखिएगा कैसा चमकाता हूं। मैंने खुद वार्निश से भी अच्छी चीज तैयार की है। चपड़े, चंदरस और स्प्रिट के घोल से देखिएगा कल इस कुर्सी की चमक। वह जैसे आवेग में पहली बार मुखर होता है। उसकी आंखों में और ओठों पर वार्निश की चमक से ज्यादा ताजी और तेज मुस्कान चमक उठती है और वह तेजी से सैंडपेपर कुर्सी के हत्थे पर रगड़ने लगता है। लगता है, वह कुर्सी को नहीं, अपनी जिंदगी को चमका रहा है।

वह चमकेगा, निश्चय ही चमकेगा। ध्रुव बनकर चमकेगा।—मैं मन-ही-मन रोम-रोम से उसे असीसता कहता हूं: अच्छा है, अपना काम अपने हाथ से करना ही अच्छा होता है। आत्मनिर्भरता का सुख कम संतोष नहीं देता।

बैठिए। चाय पीजिए।—वह कहता हुआ सीधे खड़ा हो जाता है। उसने कह तो दिया है, पर उससे पीना अच्छा है, पिला सकेगा, खुद भी तो कैसे बनाएगा, कमरे में तो कुछ नहीं है, क्या खरीदकर बाहर से लाएगा या भीतर के परिवार से बनवाकर लाएगा? —हो सकता है उनसे निकटता हो या वे लोग निकट के हों। पूछना क्या उसे कहीं कुरेद देना तो नहीं हो जाएगा?

नहीं-नहीं, आप जो कर रहे हैं करें। मैं तो यूं ही...

मेरे कहने पर उसकी आंखों में सुस्थिरता का भाव आ जाता है। उसकी आंखों में कुछ है, जो द्रवित भी करता है, आस्था भी जगाता है। शायद उन आंखों में वह भाव है, जो मौलिकता और स्वयं के सृजन में पकता है और जिससे जीवित जाति का अंगारवत् साक्षात् होता है। उसकी इस अनाघ्रात लीनता और उसके इस संकल्प-संपन्न कर्म से मुझे यही महसूस होता है।

अचानक मैं अखबार का एक पन्ना उठा लेता हूं। यूं ही पढ़ने के व्यर्थ क्रम में एक जगह हाशिए पर हाथ से लिखा है: अखबार को निचोड़ने से समाजवाद चुएगा। और नेता के खुले मुंह से जरूरत की सारी चीजें बेभाव मिल जाएंगी।—पढ़ते हुए मैं मुस्करा उठता हूं। वह मेरी मुस्कान देख मुस्कराता सर झुका लेता है। उसके सामने मेरे पैरों की धीमी गति के साथ मेरी सरकती नन्ही परछाईं में आदिम वानर का बौनापन गतिमान है।

उसे अखबार थमाता मैं बाहर आ जाता हूं। वह लेता हुआ नमस्कार करता है। संभ्रम में ठिठका क्षण-भर मुझे जाते देखता है। रोशनी से हिली पर्दे की परछाइयां बता रही हैं कि वह अंदर चला गया है और फिर हत्थे को तेजी से इस तरह चमकाने लग गया है, जैसे लकड़ी और शरीर एक हैं, सैंडपेपर और जैतून का तेल एक हैं और वह खुद कुछ गांधीजी से कम नहीं है।

क्योंकि सुविधाएं परोपजीवी बनाती हैं और खुद को दबोच लेती हैं। सुविधाजीवी होना निज की अस्वीकृति है, यह वह बखूबी जानता है। बल्कि मैं जानता हूं कि वह जानता है।

लेकिन मैं चकित हूं उसकी सुरुचि पर कि उसने एक बार भी मेरे अचानक आने की वजह तक नहीं पूछी, न आज तक मेरा परिचय जानना चाहा। वह मुझमें प्रवेश नहीं करना चाहता। मेरे एकांत को भंग करना उसे नहीं सुहाता।

मैं फिर आकर आरामकुर्सी पर पसर जाता हूं। भुने मसाले की महक से भूख मालूम हो रही है। कालीन के फूल हंस रहे हैं। ट्यूबलाइट की मुलायम मद्धिम रोशनी चंद्रोदय की कैरवी शोभा से संपन्न है। उधर ऊपर बुद्ध के बगल लकड़ी के नन्हे ग्लोब पर चिकना हाथी एक पांव आगे किए मानो उसे खिसकाता गतिमान है। कैलेंडर में आज की तारीख पर चुंबक चिपका हुआ है। स्वर्णकिशी अल्सेशियन

मुंह नीचा किये पड़ा है। खुशनुमा फूलोंलदा लॉन महक रहा है। एकांत निर्मलता में केकड़े की तरह मैं जैसे देख रहा हूं।

भीतर कुशनों पर मेरे पालतू कुत्ते भौंक रहे हैं। ये कुत्ते स्ट्रीट-डाग्स थे। मैंने पाल लिए। इन्हीं के लिए मैं जिंदा हूं। वर्ना रिटायर हुए उतने बरस हुए, जितने बर्तानिया सरकार को गए।

दांत निकालकर मैंने कॉफी-टेबुल पर रख दिया है। और अब स्वस्थ हूं।

बाहर जीप खड़ी है। मुझे दूसरी गाड़ियां पसंद नहीं हैं।

आंखें अभी तक तेज हैं। गिद्ध की तरह।

अगर यह लड़का मेरे सामने न दिखता तो मैं इस आरामकुर्सी पर न बैठता, अंदर ही रहता। पर इस लड़के ने मुझे इन कुत्तों से बिछुड़ जाने दिया है। मैं अनायास उनके प्रति अकरुण और विरत, उसके बारे में सोचते हुए अपने आकाश को एक सच्चा एकांत दे पाता हूं। और वह कभी संवाद के लिए स्वयं प्रस्तुत तक नहीं होता। मेरे पास कितने आते हैं: नौकरियों के लिए, सिफारिशें और खुशामदें लिए। उन्हें मेरे नौकरों के तलवे चाटने पड़ते हैं। और मैं उसे असीसता हूं। वह मेरे यहां आज तक नहीं आया। उसने कभी यह भी नहीं कहा कि आपके पालतू कुत्ते भौंकते हैं। क्या मैं इन कुत्तों के सामने माइक लगवा दूं? भजन से भौंकना कुछ तो भयंकर होगा।

लेकिन कौन जाने, जैसे मेरे मन में संकोच है, उसमें भय हो।

मैं फिर उसके यहां नहीं गया। कुत्तों में ही मन लगाता रहा। मेरे पास जीवित इनके अलावा क्या है: कुछ नहीं, सिर्फ अमूर्त का विस्तार है। कभी मैं व्यस्त था, यायावर था, परिवारी था, लोगों से घिरा उच्चपदीय सम्मान-संपन्न नागरिक था, जीवित था। आज सिर्फ ताम-झाम के अवशेष, अतीत की भस्मियां, संपत्ति, ये कुत्ते, मुर्दा मैं और अगत्या केवल अमूर्त मुर्दार शून्य....

या फिर मेरी वीरानियों की ओस की तरह इधर यह है, जिसका आना और जाना-भर दिख जाता है। और मन में वह मेरे ममत्व से घिरता जाता है—गोद-लिया-सा। सीपी में मोती कैसे पकता है, मेरे दिल से कोई पूछे। जब जीवित भाव मेरे लिए अनिवार्य है, तब मैं अकेला अभाव में हूं।

मैं उसके बारे में फिर भी सोचता रहा। मेरे मन में उसे लेकर स्वीकृति और अस्वीकृति का, आकर्षण और विकर्षण का द्वंद्व चलता रहा कि अचानक एक दिन वह सुबह ही सुबह आया। मैं अपने टोनी के साथ घूमकर लौटा था। टोनी माने वही स्वणकिशी। छड़ी मैंने कोने में रखी ही थी कि वह दिखा। मेरी इच्छा हुई, चेक काटकर दे दूं और उसमें पैसे भी न लिखूं। वह स्वतः जो चाहे, जितना चाहे भर ले। वह मेरे निकट आज्ञा लेकर आया और बड़े अदब के साथ नमस्कार करता हुआ बोला: आपके यहां चोकर होगा?

मैंने अपनी जिंदगी के संवरे दिनों से इन उजाड़ दिनों तक में पहली बार यह शब्द सुना और चौंक पड़ा। मैं सोचता था, इससे संवाद आज हो जाएगा। यह मेरी सर्विसेज के बारे में पूछेगा, मैं विस्तार से बताऊंगा, राजनीति पर बातें होंगी, देश और फिर उसकी गरीबी की बातें होंगी। मैं उसे खुलासा जान सकूंगा। और उसे मोटी रकम वाली सर्विसेज और उसके सोर्स बताऊंगा। वह चिट्ठी मांगेगा ही और मैं उसे इस तरह खत दूंगा, जैसे कोई अगले दर्जे की उपाधि दे रहा होऊं। फिर एक दिन वह मेरा और हां, सिर्फ मेरा होगा। लेकिन यह चोकर—सदाशयता की नोंक पर फिर वही द्वंद्व दहक उठा।

मैंने घंटी की ओर इशारा किया। उसने घंटी बजा दी। चार-पांच दुम हिलाते कुत्तों सहित एक नौकर आ गया। और प्रश्न-भरी मुद्रा में मुझे देखने लगा। उसने फिर कहा: चोकर होगा?

चोकर का होई?

मुझे जरा जरूरत है। उससे नहाऊंगा, न साबुन की जरूरत पड़ेगी, न तेल की।

अच्छा, चोकरौ से नहावा जात है?

हां, साबुन-तेल न हो तो चोकर इस्तेमाल करो। चाय की तलब हो और कुछ न हो तो सौंफ और गोल मिर्च पानी में गर्मा लो और एक बर्फी मिलाकर पी जाओ। बर्फी के लिए थोड़ी तरद्दुद हो सकती है पर उससे दूध और चीनी की रंगो-बू आ जाएगी। और नुकसान भी नहीं करेगी।

संवाद मेरे नौकर से हो रहा हो तो मुझे यही सोचना चाहिए कि संवादी उसी दर्जे का है और मुझसे संवाद करना उसके लिए दुस्साध्य है।

नौकर चकित था, बोला: हांऽऽ, अईसा। बाबू, ई सरकार हैंगे। ई चोकर-सोकर का जानैं, हम गरीब जानत है की। (कुछ रुककर) गन्हीं महतमा जब नमक-नमक किहेंन, तब फिरंगियौ नै जानत रहेन बाबू, नमक का होत है। अरे, बड़मनई लोग का जानैं ई सब!

मैं 'सरकार' शब्द से प्रसन्न तो हुआ, पर लगा कि मैं

एक अमूर्त सत्ता हूं और मुझे कोंचा गया है चोकर से। और सो भी नमक-आंदोलन के समांतर रखकर।

मुझे थैलीशाह सिद्ध किया जाता, सह्य होता। लेकिन नहीं, मुझे अवशिष्ट भूरा अंग्रेज समझा गया। 'सरकार' जो सम्मान देता था, किस कदर अब अश्लील और साल डालने वाला बन गया था। जैसे उस एक शब्द में पूंजीवादी व्यवस्था और अंततः उपनिवेशवादी शासन की एकजुट गुटरगूं समृद्धि को पचाकर विस्फोटक बना दिया गया हो उसे! —मेरा ढांचा ही अब मेरा लौटा हुआ बूमरेंग था।

अपने को गरीब क्यों कहते हो? गरीबी और बेकारी कुंठाएं हैं, जो हम पर थोपी गई हैं। अपने को विवेक से स्वस्थ अन्वेषित करो और देखोगे कि अमीरी और यह ढांचा अपने-आप ढह जाएंगे। —उसने सधे स्वर में कहा।

मुझे लगा, अब की मुझसे कहा गया है: मैंने सहज भाव से बिना संकोच जैसे परखी लगाते हुए पूछा: जाड़ों में भी आप यही कपड़े पहनते हैं?

हां—वह मुक्त और खुला हुआ था।

इस एक शब्द से मैं आश्वस्त नहीं हुआ।

क्यों, जाड़ा नहीं लगता?

जाड़ा तो सबको लगता है। पहनिए तो, न पहनिए तो। क्या आपको नहीं लगता? बात तो सहने की है। कौन कितना सह पाता है? या कौन कितना सहने के लिए बाध्य हो सकता है?

मैं निरुत्तर। उसकी जगह स्वयं हतप्रभ। इतना बेलाग और बेलौस मैंने अपने सामने किसी को नहीं देखा। इसकी आत्मा में शक्ति है। और यह मुक्त है। इसे बंदी बनाने की क्षमता किसी में नहीं है।

वह फिर बोला: और ठिठुर तो पूरा हिंदुस्तान रहा है। हां, चंद लोग जरूर हैं, जो इस ठिठुरन से बचने के लिए दूसरों को और ठिठुरते देखना पसंद करते हैं।

उसके चेहरे पर न तनाव था, न स्वर में अकोमलता। वह सहज था। उसके मौन में वही सौम्य सधा हुआ था।

न हो तो कपड़े साफ करके हमें देइ दें, हम इस्तिरी कइ देईं।

नहीं, वह तो मैं लोटे से कर चुका हूं।

हां भैया, जीने का ढंग इसी को कहते हैं।

नौकर इतना कहकर तेजी से अंदर गया, चोकर लाया और उसे दे दिया। कुत्ते शांत, दुम हिलाते उसे देखते रहे और मैं चिंथे लत्ते-सा पड़ा रहा। टोनी उसे तब से अब तक देखता रहा, जैसे वह अघटित घटना हो। मैंने अपने को तौलते हुए सधे स्वर में जैसे उसे परास्त कर देने के लिए पूछा: तुम उसी ढांचे में नहीं जी रहे हो, जो लोगों को गरीबी और अमीरी में बांटता है?

गरीबी और अमीरी तो प्रत्यक्ष विभाजन है। यह ढांचा कब और कहां नहीं है? और विभाजन? वे अनेक हैं: गहरे और सूक्ष्म, मनुष्य से उसका सब-कुछ छीनकर सरीसृप बना देने वाले, गूंगा, बांझ और ठूंठ बना देने वाले, पानी को जमाकर संगमरमर बना देने वाले। (कुछ रुककर) हां, ढांचे को बदलने के लिए ढांचे के भीतर जाना बल्कि उसमें होना जरूरी है। बाहर रहना या होना संभव नहीं है। और बाहर रहकर या समझ कर कुछ भी नहीं बदला जा सकता। भीतर रहते, अब तक लोग यंत्र होते रहे हैं। अब भीतर जाकर या रहकर निरंतर सचेत अपनी अस्ति को सिद्ध करना अनिवार्य हो गया है।

मैंने मुस्कराते हुए पूछा: अस्ति को सिद्ध करना क्या अपनी इयत्ता से दूसरों को घेरना नहीं है?

नहीं, कदापि नहीं। अब तक इयत्ता से घेरकर चंद लोग दूसरों की अस्ति को आयत्त करते रहे हैं और अपनी अस्ति को निरपेक्ष या अमूर्त, अतः अमानवीय बनाते रहे हैं। अस्ति की सिद्धि मानवीयता की सिद्धि है। आयत्त करने की कोशिशें अस्ति को सिद्ध नहीं करतीं और न मानवीयता को ही सिद्ध करती हैं। अस्ति स्व नहीं है, सर्वस्व है, अस्ति बांसुरी है, बंदूक नहीं।

तने हुए सन्नाटे में मैं अवाक्। शक्ति के स्फोट से विजड़ित।

मुझसे यह भी नहीं पूछते बना कि इंटरव्यू किस पोस्ट के लिए है, उसकी डिग्री क्या है, वह अब तक क्या करता रहा है। मेरे सामने उसके हाथ के सैंडपेपर की बृहदाकार छाया थी और मेरी बौनी यथार्थ परछाईं मुझे—मुझ व्यंग्य को आधार दिए हुए थी। उसके द्वार से निकलते उस दिन मैंने नहीं सोचा था, पर आज इस समय सोच रहा था: क्या कभी-कभी छाया ही हमें व्यक्त नहीं कर देती?

मैं अपने अकेलेपन में गूंगा होने के क्रम में जैसे हमेशा के लिए शून्यचेत हो गया। केवल मेरे रोम-रोम से एक आयासहीन प्रार्थना फूटती रही—सांय-सांय, धुआं-धुआं! और मेरी स्वयं-डूबी आत्मा असीसती रही—निरालंब, आदतन।

मेरे कुत्ते भौंकने लगे थे। और वह—नन्हा ईश्वर हो जैसे—मेरी आंखों के सामने से चोकर लिए जा रहा था, जिसे मैंने मित्र के चश्मे में गीत की कड़ी की तरह देखा था। ❖

नन्दकिशोर आचार्य की कविताएं

•
यदि यह सृष्टि...

यदि यह सृष्टि
तुम्हारी ही कल्पना है
तो अब मैं नहीं मरूंगा
जब तक तुम नहीं मरते।

और तुम
जो बार-बार मुझमें
जनमते हो कि मर सको
अमर होने को विवश हो।

इसलिए ऊबो नहीं
प्यार करो
और मुझे संवारो
जैसे मैं अपने प्यार को
संवारता हूं
जिसमें मैं हर बार
मरता हूं कि जी सकूं।

•
समय में खिला सूनापन

न स्मृति है न प्रतीक्षा
समय में खिला
एक सूनापन है खंडहर—
समय के सूनेपन को
अपने खिलने में
गहराता हुआ...

•
झरना

मेरे सीने में
एक झरना है
बस
इसी बात का तो
मरना है!

•
बोल रहा जल

सूनेपन में अंकुर फूटा :
बोल रहा जल
रेतीली खामोशी में।

•
अनंत की आकृति

नहीं, कोई सोने का किला नहीं है यह
धरती की आत्मा से फूटी
एक प्रार्थना
सहस्रदल पीतकमल-सी
खिल आई थी खुली अंजुली में
अनंत को अर्पित
धरती स्वयं प्रार्थना है जिसकी।

पर अब सबसे उदासीन
अपने में गुम है
प्रार्थना पथरीली सिसकी में
बदल गई
और यह उसकी ही लय है
अनंत को आकृति करती हुई।

•
घर उसकी स्मृति में

मुक्ति की तलाश में
खोजती है आत्मा
एक घर
ताकि उसको छोड़कर
वह मुक्त हो जाए।

घर उसकी स्मृति में
खंडहर ही रहता है सदा।

❖❖

शीलन

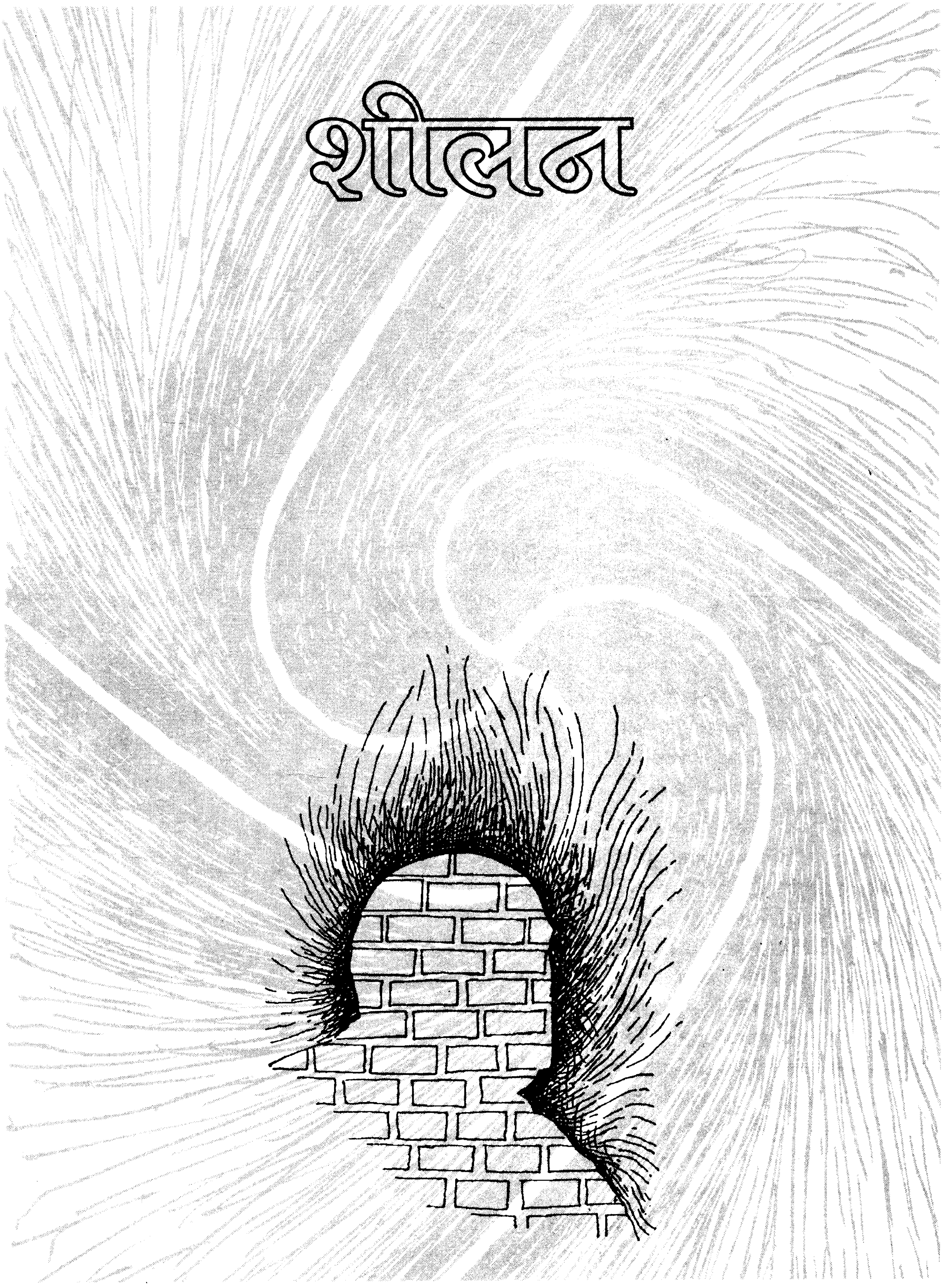

सत्य से मेरा तात्पर्य केवल वैज्ञानिक रूप से सही हिसाबी सत्य से नहीं है। हालांकि वह भी हमारी मानवीय बातचीत का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। लेकिन इस तरह की बातचीत कमजोर होती है जो केवल कोरे तथ्यों का वर्णन करती है तथा केवल आंकड़ों का पाठ करती है। असली बातचीत वह होती है जिसमें चीजों की ओर अधिक संकेत किए जाते हैं, तुलनाएं की जाती हैं और यह कहा जाता है कि हमें चीजें कैसी लगती हैं : हम मनुष्यों के बारे में कैसा अनुभव करते हैं। इस तरह हम जो एक निरंतर और निर्बाध बातचीत हैं : यह आशा करते हैं कि हम अपने आतंरिक और सामाजिक संसारों के बीच एक अर्थबोध और तारतम्य खोज सकेंगे, एक तर्क उभरेगा जो केवल हिसाबी न होकर जीता हुआ अनुभूतिपूर्ण होगा।

—फिलिप रासन

पूर्णात् पूर्णमुदच्यते

✍ विनोबा ✍

श्रुति का वचन है—'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते'। पूर्ण से पूर्ण, यह प्राकृतिक विकास का नियम है। प्रश्न होगा कि इसका अर्थ क्या है? अगर पहले भी पूर्ण और पीछे भी पूर्ण, तो 'विकास' किसका? अपूर्ण से पूर्ण कहा जाए, तो 'विकास' समझ में भी आता है। पर 'पूर्णात् पूर्ण', यह भाषा ही अर्थशून्य प्रतीत होती है।

छोटे पूर्ण से बड़ा पूर्ण

अवश्य ही यह भाषा अर्थशून्य प्रतीत होती है, पर इसमें गंभीर अर्थ निहित है। पूर्ण से पूर्ण यानी छोटे पूर्ण से बड़ा पूर्ण। नवजात शिशु भी पूर्ण है और बीस वर्ष का युवक भी पूर्ण है। पहला छोटे पूर्ण का उदाहरण है और दूसरा बड़े पूर्ण का। बालक के एक आंख थी या आधी नाक थी और युवक के दो आंखें या पूरी नाक हो गई, ऐसी बात नहीं। दोनों के दो आंखें और उन दोनों के बीच एक नाक होती है। दोनों ही पूर्ण हैं। अंतर यही है कि एक छोटा पूर्ण है और दूसरा बड़ा पूर्ण।

दो इंच की सुरेखा भी पूर्ण है और चार इंच की सुरेखा भी पूर्ण सुरेखा होती है। पहली छोटी और दूसरी बड़ी। दो इंच व्यास का वर्तुल भी पूर्ण वर्तुल है और चार इंच व्यास का वर्तुल भी पूर्ण वर्तुल है। पहला छोटा है, दूसरा बड़ा। श्याम-पट्ट पर अंकित आंवले के बराबर जो शून्य था, वह खुर्दबीन से कोहड़े के बराबर दिखाई देने लगा। यानी खुर्दबीन ने क्या किया? कैसा 'विकास' किया? क्या उसने अपूर्ण शून्य को पूर्ण शून्य बना दिया? या छोटे पूर्ण शून्य को बड़ा पूर्ण शून्य बना दिया? खुर्दबीन ने क्या एक-सा कुछ किया कि जो पूज्य (शून्य) आंवले के बराबर था, उसे कोहड़े के बराबर पूज्य (शून्य) बना दिया?

अवश्य ही यह भाषा अर्थशून्य प्रतीत होती है, पर इसमें गंभीर अर्थ निहित है। पूर्ण से पूर्ण यानी छोटे पूर्ण से बड़ा पूर्ण। नवजात शिशु भी पूर्ण है और बीस वर्ष का युवक भी पूर्ण है। पहला छोटे पूर्ण का उदाहरण है और दूसरा बड़े पूर्ण का। बालक के एक आंख थी या आधी नाक थी और युवक के दो आंखें या पूरी नाक हो गई, ऐसी बात नहीं। दोनों के दो आंखें और उन दोनों के बीच एक नाक होती है। दोनों ही पूर्ण हैं। अंतर यही है कि एक छोटा पूर्ण है और दूसरा बड़ा पूर्ण।

छोटे शून्य से बड़ा शून्य

और, सचमुच शिक्षण-शास्त्र इससे अधिक कुछ भी नहीं कर सकता। शिक्षण-शास्त्र की व्याख्या ही करनी हो, तो 'आंवले बराबर शून्य से कोहड़े बराबर शून्य', यह व्याख्या आप खुशी से करें। शिक्षण द्वारा आंवले से कोहड़ा बन जाएगा, या समर्थ रामदास स्वामी की भाषा में 'मूर्ख' से 'पठित मूर्ख' अथवा अधिक-से-अधिक, अधकचरे सयाने से डेवढ़ा सयाना या मूर्ख बनेगा। पर यह विनोद छोड़कर उसका भाव ग्रहण किया जाए, तो यह ध्यान में आ जाएगा कि किस तरह 'पूर्ण से पूर्ण' नैसर्गिक विकास का नया सूत्र है।

स्पष्ट से अस्पष्ट

सुबह पांच बजे सामने का पेड़ मुझे धुंधला दीख रहा है। दीखता तो है पूरा, पर है अस्पष्ट। साढ़े पांच बजे थोड़ा स्पष्ट दीखने लगता है। उस समय भी पहले जैसा ही वह पूरा दीखता है, पर थोड़ा स्पष्ट है। सूर्योदय के बाद भी पूरा पेड़ दीखता है, पर अत्यंत स्पष्ट। यह नहीं होता कि पांच बजे चौथाई पेड़ दिखाई पड़े, साढ़े पांच बजे आधा और सूर्योदय के बाद पूरा। तीनों दफा वह दीखा तो पूरा ही, पर पहली दफा में अस्पष्ट संपूर्ण, दूसरी दफा में स्पष्ट संपूर्ण और तीसरी दफा में अतिस्पष्ट संपूर्ण। अस्पष्ट, स्पष्ट और अतिस्पष्ट, यह विकास सूर्य-प्रकाश ने किया। पर तीनों दफा वह विकास संपूर्ण का ही किया। इस तरह स्पष्ट है कि छोटे पूर्ण से बड़ा पूर्ण, अस्पष्ट पूर्ण से स्पष्ट पूर्ण—यह प्राकृतिक विकास है।

अपूर्ण से पूर्ण और पूर्ण से पूर्ण का अंतर

'अपूर्ण से पूर्ण' का अर्थ क्या है और 'पूर्ण से पूर्ण' का अर्थ क्या है, यह समझने के लिए एक दृष्टांत पर ध्यान दें। मान लीजिए, हम लोग समुद्र के किनारे खड़े हैं। हमें इस समय समुद्र में जहाज वगैरह कुछ भी दिखाई नहीं देता। थोड़ी देर में एक जहाज दीखने लगता है। यानी जहाज का सिर्फ ऊपरी सिरा दीखने लगता है। थोड़ी देर बाद बिचला भाग दीखने लगता है और फिर पूरा जहाज ही दिखने लगता है। अब वह संपूर्ण तो दीखता है, दूर होने के कारण अस्पष्ट है।.इसके बाद जैसे-जैसे वह पास आने लगा, वैसे-ही-वैसे अधिक स्पष्ट दीखने लगता है। पहले क्षण में जहाज का जो दर्शन हुआ, तब से लेकर संपूर्ण जहाज दीखने तक के दर्शन को हम 'अपूर्ण से पूर्ण' कहेंगे और बाद के दर्शन को 'पूर्ण से पूर्ण'।

भूगोल-शिक्षा का दृष्टांत

एक शिक्षक छात्रों को हिंदुस्तान का भूगोल पढ़ा रहा था। उसने पहले बच्चों को पूरे हिंदुस्तान का नक्शा दिखलाया। फिर उन्हें विभिन्न प्रांत बताए, फिर सभी प्रांतों की नदियां दिखलाईं। इसके बाद उसमें सभी प्रांतों के ऐतिहासिक, धार्मिक, व्यावसायिक महत्त्व के स्थान दिखलाए और इसी तरह सूक्ष्म-सूक्ष्म जानकारी कराता गया। यह शिक्षक छात्रों के ज्ञान को 'पूर्ण से पूर्ण' की ओर ले जा रहा है।

दूसरा प्रयोग

दूसरा एक शिक्षक इसी तरह छात्रों को हिंदुस्तान का भूगोल पढ़ा रहा है। पर पहले उसने छात्रों को एक जिले की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जानकारी करा दी, फिर दूसरे जिले की। इसी तरह करते-करते उन्हें एक प्रांत की जानकारी करा दी। अब इन छात्रों को एक प्रांत की सूक्ष्मतम जानकारी हासिल हो गई। किंतु अन्य प्रांतों के बारे में वे शून्य रहे। आगे चलकर शिक्षक ने इसी क्रम से अन्य प्रांतों की भी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जानकारी कराई। अंततः छात्रों को पूरे हिंदुस्तान की जानकारी हो गई। हिंदुस्तान का भूगोल पढ़ाने के बारे में ही कहें, तो कहा जा सकता है कि यह शिक्षक विद्यार्थियों के ज्ञान को 'अपूर्ण से पूर्ण' की ओर ले जा रहा है।

पूर्ण से पूर्ण की ओर, आत्मविकास का सनातन सूत्र है। किसी भी आत्मवान् वस्तु के विकास में यही सूत्र लागू होता है।

शिल्प-कला का दृष्टांत

'क्ले मॉडलिंग' (मिट्टी की मूर्तियां आदि बनाने की कला) संबंधी एक पुस्तक में मूर्ति को अपूर्ण से पूर्ण की ओर ले जाने की पद्धति का स्पष्ट निषेध किया गया है। उक्त पुस्तक में लेखक ने अपना अनुभव देते हुए लिखा है कि 'आरंभ में मिट्टी का चाहे जैसा आकार बनाएं, पर अंत में अभीष्ट आकार प्राप्त हो जाए, तो ठीक', इस भावना से कभी काम न करें। बल्कि इस ढंग से निर्माण-कार्य करें कि आदि से लेकर अंत तक किसी भी समय कोई उसे देखे, तो वह समझ जाए कि क्या चल रहा है। ऐसा होने पर ही मूर्ति में कला का संचार होता है। नहीं तो बहुत-से कलाकार यह कहते पाए जाते हैं कि अभी क्या देख रहे हैं—पूरा हो, तब देखना। शुरू में ऊटपटांग बनाते चलें और बाद में उसे सुधारने बैठें! इस तरह की धांधली से कला सध नहीं सकती। कला है, आत्मा का अमर अंश। इसीलिए आत्मविकास के सूत्र 'पूर्ण से पूर्ण' को लेकर ही कला का जन्म संभव है।

राष्ट्र-निर्माण बहुत ही बड़ी कला है। 'पूर्णात् पूर्णम्' सूत्र पकड़कर ही अगर उसकी रचना की जाए, तभी वह सध सकेगा। ❖

भूलने की महिमा

उपनिषद् में ज्ञान के साथ-साथ अज्ञान की भी महिमा गाई गई है। मनुष्य को ज्ञान भी चाहिए और अज्ञान भी। केवल ज्ञान या केवल अज्ञान अंधकार में ले जाता है। उपयुक्त ज्ञान और उपयुक्त अज्ञान के संयोग में ही अमृतत्व भरा हुआ है। वैसे देखा जाए, तो संसार में ज्ञान इतना भरा पड़ा है कि उस सबको अपने मस्तिष्क में ठूंसने का यत्न करने से मानव पागल हो जाएगा। इसलिए स्मरण के साथ-साथ विस्मरण की भी उतनी ही आवश्यकता है। विद्यार्थी रटी हुई चीज ज्यों-की-त्यों सुना दे, तो मुझे वह पसंद नहीं पड़ता। उसे मैं ग्रामोफोन कहता हूं। वह तो यंत्र हो गया। मैं उसे चेतन कहने वाला नहीं। वह यदि चैतन्य होता, तो कुछ छोड़ देता, कुछ जोड़ देता।

—विनोबा

आचार्य तुलसी : पुण्य स्मरण

साधना का सिद्ध पुरुष

✍ साध्वी मुदितयशा ✍

साधना की अनेक सीढ़ियों को पार करने के बाद ही कोई व्यक्ति सिद्ध पुरुष बन पाता है। शरीर, वाणी और मन की त्रिपदी की साधना ही सिद्ध अवस्था तक पहुंचने का सेतु बन सकती है। बाह्य और आभ्यंतर तपस्या के प्रयोगों से चेतना को भावित करना साधना के मार्ग को प्रशस्त करना माना जा सकता है। सिद्धि के बाद अनेक विलक्षण संपदाएं उस सिद्ध पुरुष के इर्द-गिर्द छाई रहती हैं। काल के प्रभाव से भी मुक्त रहते हुए इच्छामृत्यु का वरण करने की क्षमता भी सिद्ध पुरुषों को प्राप्त होती है। आचार्यश्री तुलसी को जन्मजात सिद्ध पुरुष माना जा सकता है। वे सहज योगी के रूप में साधना के क्षेत्र में उतरे। इसीलिए जब जो चाहा, उन्होंने उसे पूरा किया। उनका हर सपना साकार हुआ। मार्ग की बाधाएं उनके संकल्पों को कभी डिगा नहीं सकीं। संघर्षों के तीव्र झंझावात में भी उनके साहस और दृढ़ता की दीपशिखा सदा प्रज्वलित रही। जहां सामान्य व्यक्ति को उपलब्ध अवसर में भी कठिनाइयां महसूस होती हैं, वहीं महान व्यक्ति कठिनाइयों में भी अवसर और अनुकूलता की खोज कर लेते हैं। आचार्यश्री तुलसी ऐसे ही महान पुरुष थे जो संघर्षों से जूझकर उन्हीं से नई ऊर्जा प्राप्त कर सकते थे। अवरोध में भी वे विकास के बीजमंत्र प्राप्त करते रहे।

यह तो सर्वविदित है कि आचार्यश्री तुलसी व्यक्ति नहीं, विचार थे। विचारों का प्रवाह कभी भी क्षेत्र और समय की सीमा में आबद्ध नहीं रहता। तभी तो एक संप्रदाय-विशेष के प्रमुख होते हुए भी वे संप्रदायातीत थे। आचार्यश्री तुलसी के विचारों में निहित थी—करुणा, संवेदना और समस्याओं से जूझती मानवता के लिए समाधान की रोशनी। अपने विचारमंथन से उन्होंने जो नवनीत दिया, वह इतिहास की दुर्लभ निधि बन गया। तेरापंथ और जैन धर्म के इतिहास में उनकी विचार-क्रांति के अनेक कालजयी आलेख अंकित हैं।

अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान एक त्रिवेणी संगम के रूप में सर्वत्र विख्यात हैं। इस त्रिपुटी ने विश्वचेतना को तन और मन—दोनों प्रकार का सद् स्वास्थ्य प्रदान किया है। अणुव्रत के द्वारा आचार्यश्री तुलसी ने भारत की परंपरा और सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। तब लंबी पराधीनता के बाद भारत आजाद हुआ ही था। उसी समय आचार्यश्री तुलसी ने देशवासियों के नैतिक व आध्यात्मिक उन्नयन का सपना देखा। उन्होंने हर वर्ग को नैतिकता का संदेश दिया। जाति, वर्ग, वर्ण और संप्रदाय से परे 'धर्म' का एक नया क्षितिज उन्मुक्त किया। उन्होंने स्पष्ट कहा—धर्म खुला आसमान है। उसे उपाश्रय और उपासना पद्धति में सीमित न करें। जो धर्म हमारे कर्मक्षेत्र में उतरे, जीवन-व्यवहारों का स्पर्श करे—वही सच्चा धर्म है, मानव-धर्म है।

सांप्रदायिक कट्टरता से उत्पन्न समस्याओं के लिए अणुव्रत युगीन समाधान सिद्ध हुआ है। उसने संपूर्ण युगमानस को प्रभावित किया। हर धर्म की छवि अणुव्रत में प्रतिबिंबित होने लगी। किसी ने कहा—'प्रभु क्राइस्ट ने जो दर्शन दिया, अणुव्रत आंदोलन

भारत की इस अध्यात्मप्रधान वसुधा पर अनेक धर्म और परंपराएं एक साथ पल्लवित-पुष्पित हुई हैं। जैन धर्म के सिद्धांत सार्वजनीन हैं। वे प्राचीन होने पर भी यथार्थस्पर्शी हैं। यथार्थता कभी अप्रासंगिक नहीं होती। महावीर की वाणी आज भी प्रासंगिक है। वर्तमान परिस्थितियों में जो चिंतन वह देती है, उसमें युगीन समस्याओं के समाधान खोजे जा सकते हैं। आचार्यश्री तुलसी ने एक सपना देखा—जैन धर्म कैसे जनधर्म बने और जो दर्शन महावीर ने दिया, उसकी अनुगूंज विश्व के हर कोने में पहुंचे।

उसी के समान है।' किसी ने कहा—'अणुव्रत आंदोलन छोटे-छोटे व्रतों से समाज की विकृतियों का परिष्कार कर रहा है।' अणुव्रत ने व्यक्ति-व्यक्ति के विचारों को आंदोलित किया। सिद्धांत के स्तर पर परिवर्तन की महत्ता उजागर की। कोई भी सिद्धांत प्रयोग की धरती पर जब उतरता है तभी उसका तलस्पर्शी प्रभाव सामने आता है।

आचार्यश्री तुलसी ने प्राचीन आगमों के आलोक में ध्यान के अमूल्य सूत्र प्राप्त किए। उनका मानस विच्छिन्न होती ध्यान की परंपरा के पुनर्संधान पर केंद्रित हो गया। आचार्यश्री तुलसी की दिव्य दृष्टि और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की जागृत प्रज्ञा का अद्भुत योग मिला और 'प्रेक्षाध्यान पद्धति' का अवतरण हो गया। ध्यान का एक नया स्वरूप, एक नई विधा जनता के सामने आ गई। ध्यान के विविध प्रयोगों से जहां बुरी आदतों और विकृतियों का परिष्कार होता है, वहीं नव-निर्मल मानव का निर्माण भी होता है। आज हमारे देश में ही नहीं, विदेश की धरती पर भी 'प्रेक्षाध्यान' शांतिपूर्ण जीवन का प्रभावी सूत्र बन रहा है। चेतना के ऊर्ध्वारोहण व शक्ति संवर्धन का अद्भुत उपक्रम है—प्रेक्षाध्यान।

संस्कार विकास की बुनियाद है। आचार्यश्री तुलसी ने संस्कारनिर्माण की दृष्टि से जो श्रम किया वह इतिहास में अमिट है। दिन हो या रात, धूप हो या छांह, भीड़ हो या एकांत—उनके पुरुषार्थ का निर्झर अनवरत बहता रहता। जब उन्होंने देखा कि नई पीढ़ी कथित आधुनिकता के दुष्चक्र और व्यामोह में अपने उज्ज्वल संस्कारों को विस्मृत कर रही है और मानवीय मूल्यों का प्रासाद कमजोर होता जा रहा है, तो वे इसके कारणों की तह में पहुंचे। उनके गहरे पर्यवेक्षण ने उनका ध्यान शिक्षाप्रणाली की ओर आकृष्ट किया। उन्हें प्रतीत हुआ—वर्तमान शिक्षा प्रणाली ने अध्ययन की अनेक शाखाएं विकसित की हैं, किंतु संवेग-नियंत्रण की कोई प्रक्रिया उसके पास नहीं है। इसीलिए आज ये समस्याएं और विषमताएं बल पकड़ रही हैं। तब उस महामानव के मस्तिष्क में एक नई परिकल्पना का जन्म हुआ। 'प्रेक्षाध्यान' के प्रयोगों को शिक्षा के साथ जोड़ा गया और समाधान की एक किरण दिखाई दी।

'जीवन-विज्ञान' के रूप में शिक्षा का एक नया प्रकल्प सामने आया। 'जीवन-विज्ञान'—शरीर, मन, बुद्धि और भाव—सभी पक्षों का स्पर्श करता है। यह व्यक्ति के समग्र विकास की प्रविधि है। आज प्रांतीय व केंद्रीय स्तर पर बड़ी संख्या में विद्यार्थी इस नए पाठ्यक्रम से लाभ उठा रहे हैं, लेकिन समग्र रूप में राष्ट्रव्यापी स्तर पर 'जीवन-विज्ञान' पाठ्यक्रम अभी लागू होना शेष है। देश के शीर्ष शिक्षाविदों के विचार-मंथन के 'एजेंडा' में अब 'जीवन-विज्ञान' को जगह मिलनी चाहिए।

आचार्यश्री तुलसी के कालजयी अवदानों में एक विशिष्ट अवदान है—'आगम संपादन'। वेद और त्रिपिटक की ही भांति जैन परंपरा के प्रतिनिधि ग्रंथ हैं—'आगम'। अपने अवसान से चार दशक पूर्व आचार्यश्री तुलसी के मन में आगम संपादन का संकल्प जागृत हुआ। विचार-विमर्श के बाद इस दुर्धर्ष संकल्प के कार्यान्वयन की उद्घोषणा कर दी गई। इससे संपूर्ण विद्वद् समाज में प्रसन्नता की लहर पैदा हो गई।

हर संकल्प प्रारंभ में सदैव बीजरूप ही होता है। बीज को विस्तार देने में समय और शक्ति का नियोजन करना पड़ता है। आचार्यश्री तुलसी के हर सपने को साकार रूप देने में सदा अग्रणी रहते रहे हैं—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी। उन्होंने अपनी शक्ति और समय का नियोजन इस कार्य में भी किया। एक-एक शब्द की गहराई में पैठकर आगमों की अबूझ गुत्थियों को सुलझाने के प्रयास शुरू हो गए। देखते-देखते संशोधित पाठ, शब्दकोश, अनुवाद, टिप्पण, समीक्षा और समालोचना सहित आगमों का जो संचयन सामने आया वह कल्पनातीत माना गया। आगम संपादन के इस महती कार्य में उल्लेखनीय पहलू यह है कि इसमें न तो सांप्रदायिक अभिनिवेश है और न ही वैचारिक संकीर्णता। यह शोधपूर्ण प्रस्तुति देखकर सभी ने एक सुखद आश्चर्य का अनुभव किया है। आगम-संपादन की कल्पना आचार्यश्री तुलसी का एक विलक्षण और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अवदान है जिसे पूर्णता आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के समर्थ हाथों से मिल रही है। आचार्यद्वय के इस महान कार्य के लिए सदियां इन्हें कृतज्ञता से याद करती रहेंगी।

भारत की इस अध्यात्मप्रधान वसुधा पर अनेक धर्म और परंपराएं एक साथ पल्लवित-पुष्पित हुई हैं। जैन धर्म के सिद्धांत सार्वजनीन हैं। वे प्राचीन होने पर भी यथार्थस्पर्शी हैं। यथार्थता कभी अप्रासंगिक नहीं होती। महावीर की वाणी आज भी प्रासंगिक है। वर्तमान परिस्थितियों में जो चिंतन वह देती है, उसमें युगीन समस्याओं के समाधान खोजे जा सकते हैं। आचार्यश्री तुलसी ने एक सपना देखा—जैन धर्म कैसे जनधर्म बने और जो दर्शन महावीर ने दिया, उसकी अनुगूंज विश्व के हर कोने में पहुंचे।

जैन धर्म को विश्वधर्म बनाने के लिए उस महामानव के कल्पनापट पर जो रेखाएं उभरीं, वे विलक्षण थीं। उन्होंने

कहा—एक ऐसी श्रेणी तैयार हो जो शिक्षा और साधना की दिशा में अनुत्तर हो। जो समर्पण और श्रमनिष्ठा में अनुत्तर हो। विविध भाषाओं में अपनी बात को प्रस्तुत करने में समर्थ हो। कल्पनाओं को आकार मिला। देखते-देखते एक नई श्रेणी अस्तित्व में आ गई। नया वेश, नई व्यवस्था, नई दिनचर्या, नया अनुशासन। सब-कुछ नया-नया था। एक नया नाम सबके अधरों पर थिरकने लगा—'समणश्रेणी'।

पिछले दो-ढाई दशक समणश्रेणी के निर्माण और कर्तृत्व की प्रस्तुति के दशक थे। इस दौरान समणश्रेणी ने देश-विदेश में जो कार्य किया वह आज सुखद भविष्य की परिकल्पना का आधार प्रतीत होने लगा है।

आचार्यश्री तुलसी का कर्तृत्व बहुमुखी था। उन्होंने छह दशक तक विशाल धर्मसंघ का नेतृत्व किया। वे त्रिकालद्रष्टा थे। उन्होंने अतीत के गौरव को परिवर्धित, संवर्धित किया। वर्तमान को विश्वव्यापी पहचान दी। शुभ भविष्य का सपना देखा, संकल्प संजोया। उनके शासनकाल में अनेक संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ। अनेक महोत्सव और शताब्दियां मनाई गईं।

अश्वघोष ने लिखा—'पुत्रैः कृतानयकृतानि पूर्वैः' 'पुत्र वह कर देता है जो पूर्वज नहीं कर पाते।' आचार्यश्री तुलसी ने शिक्षा, साधना, साहित्य, शोध, संस्कृति, काव्य, संगीत, दर्शन इत्यादि अनेक विधाओं में विकास के नए पदचिह्न अंकित किए। निर्माण की नई रेखाएं खींचीं। आने वाली शताब्दियां उनके हर कालजयी अवदान की स्मृति में अपनी कृतज्ञता का अर्घ्य अर्पित करती रहेंगी, उस युगपुरुष को श्रद्धा से नमन करती रहेगी। ❖

व्यक्तित्व और चरित्र में भी भेद जानना जरूरी है। चरित्र की निश्चित परिभाषा करना भी उतना ही कठिन है, पर इसमें संदेह नहीं कि चरित्र के प्रसंग में हम पूछते हैं कि आचरण में औचित्य की मात्रा कितनी है, हम किन आदर्शों और मर्यादाओं का कितना अनुसरण करते हैं। चूंकि अच्छे-बुरे के भेद बदलते रहते हैं, जैसे, छूआछूत और नशाखोरी के विषय में विचारों में परिवर्तन होता रहा है, चरित्र की परिभाषा और स्वरूप में कुछ-न-कुछ अंतर आता रहता है, चाहे मनुष्य के चरित्र में कुछ अंतर दिखाई दे या न दे। चरित्र के स्वरूप और परिणाम में मतैक्य नहीं और उसके संबंध में विचारों में इतनी अनेकता और विविधता है कि मनोवैज्ञानिक इस पद के प्रयोग से परहेज करने लगे हैं, क्योंकि चरित्र या उसके गुणों को मापने के लिए निश्चित मापदंड तैयार करना कठिन है। पर यह कठिनाई बहुत हद तक सुलझ जाती है जब हम यह मानकर चलें कि हमारे अध्ययन का विषय आचरण है और उसके कारणों और स्वरूप को समझना-जानना उसे अच्छा-बुरा बताने की अपेक्षा हमारे लिए अधिक महत्त्व रखता है। चरित्र की समस्याएं और दोष हमारे लिए महत्त्व के विषय हैं, पर हमें कदापि भूलना नहीं चाहिए कि मनोविज्ञान ही एक प्राकृतिक विज्ञान है और वह नैतिक विचारों में नहीं उलझ सकता। समाज और शिक्षा के लिए चरित्र महत्त्व रखता है और मनोविज्ञान उसके उन पहलुओं की अवहेलना नहीं करता जिनके विषय में हमारे विचार और ज्ञान सुनिश्चित हैं।

—हंसराज भाटिया

फनकारी है जीवन जीना

मुनि प्रशांतकुमार

आगे बढ़ने की होड़ आज किस युवक में नहीं है। मैं जहां भी हूं, जिस कार्यक्षेत्र में हूं, उसमें आगे बढ़ूं और इतना आगे बढ़ूं कि प्रथम स्थान पर पहुंच सकूं। यह सपना हर युवक की आंखों में तैरता हुआ दिखाई दे रहा है। बदलते परिवेश और मूल्यों ने समाज में एक नई आकांक्षा को जन्म दिया है और वह आकांक्षा है येन-केन-प्रकारेण सफल होने की। पहले के समय में भी सफलता की आकांक्षा रहती थी, पर सफल या विफल होने की बात कहीं सुनने में नहीं आती थी। आज की दुनिया में हर कहीं सफलता-विफलता की ही चर्चा की जा रही है। प्रतिस्पर्धा के इस युग में कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो आगे बढ़ने की ललक न रखता हो पर प्रतिस्पर्धा की इस दौड़ ने व्यक्ति को आंखों पर पट्टी बंधे एक ऐसे घोड़े की तरह बना दिया है जो आगा-पीछा देखे बिना सिर्फ दौड़े जा रहा है। यह अंधी घुड़दौड़ आदमी को कहां ले जाएगी, यह स्वयं उसे भी नहीं मालूम। शिक्षित-सा दिखने वाला एक युवक दौड़ता हुआ आया और टैक्सी ड्राइवर से बोला—'चलो, जरा जल्दी मुझे ले चलो।' हाथ का बैग उसने टैक्सी में रखा और बैठ गया। ड्राइवर ने जल्दी से टैक्सी स्टार्ट कर दी और पूछा—'साहब, कहां चलना है?' युवक ने कहा—'अरे, कहां-वहां का सवाल नहीं है, सवाल जल्दी पहुंचने का है।' ड्राइवर ने बिना लक्ष्य के ही टैक्सी को दौड़ा दिया। यह स्थिति हमें अक्सर देखने को मिलती है। किसी के पास आज यह सोचने और बताने का समय नहीं है कि आखिर उसे कहां जाना है? हर कोई यही अनुभव कर रहा है कि दुनिया तेजी से आगे बढ़ रही है। वह दौड़ रही है, इसलिए बस हमें भी दौड़ना है।

प्रतिस्पर्धा और उसके परिणाम

आज स्थिति यह हो गई है कि अपने स्थान पर पैर जमाकर खड़े रहने के लिए भी निरंतर दौड़ते रहना जरूरी हो गया है। इस स्थिति का अनुभव आज हर आदमी कर रहा है, चाहे वह किसी भी क्षेत्र में हो। उसका चिंतन है कि इतने परिश्रम के बाद हम जहां आज पहुंचकर खड़े हुए हैं और जो अपना स्थान हमने बनाया है—वहां हम टिक भी पाएंगे या नहीं। दुनिया समय की गति के साथ तेजी से बदल रही है और निरंतर आगे बढ़ रही है। हमारा इंतजार वह कभी नहीं करेगी।

इन परिस्थितियों ने आदमी के स्वभाव को बदल दिया है। वह चिड़चिड़ा, असंतोषी और अधीर हो गया है। सफलता की दौड़ में लगे हुए अधिकतर लोग कभी-न-कभी और किसी-न-किसी हद तक अपने को विफल पा रहे हैं। इस विफलता से वे दुखी और असंतुष्ट नजर आते हैं। समाज में ऐसे लोगों की तादाद तेजी से बढ़ती चली जा रही है जो अपने को, अपने काम को और अपने आस-पास को महत्त्वहीन पाते हैं। लोगों के रहन-सहन का स्तर पहले से कहीं ऊंचा हो गया है, लेकिन हर कोई अपने को अभावग्रस्त समझ रहा है तथा कुछ और पाने की कोशिश में लगा हुआ है।

> *स्वस्थ जीवन-शैली के लिए पहला प्रयास यह होना चाहिए कि जीवन के प्रति हम अपना दृष्टिकोण बदलें। जो दृष्टिकोण पदार्थवादी-भौतिकवादी बन गया है, वह आत्मलक्ष्यी बने। यह समझ हमारी स्पष्ट रहनी चाहिए कि पदार्थ मेरे लिए है, मैं पदार्थ के लिए नहीं हूं। पदार्थ मेरे जीवन के लिए सहयोगी या उपयोगी मात्र है, मैं सिर्फ उसी के लिए नहीं जी रहा हूं। मेरे जीवन का लक्ष्य इससे बहुत ऊंचा है।*

दूसरों को भी है विकास का अधिकार

आगे बढ़ने की आकांक्षा रखना, सामाजिक विकास की दृष्टि से कतई गलत नहीं है। पर दूसरों को गिराकर आगे बढ़ने की दृष्टि स्वयं के लिए ही खतरनाक बन जाती है। जो दूसरों को काटने का प्रयास करता है, वह स्वयं कट जाता है। ईर्ष्या की मनोवृत्ति स्वयं के पैरों पर कुल्हाड़ी मारने जैसी प्रवृत्ति है।

दूसरों की सफलता देखकर चिढ़ें नहीं, कुढ़ें नहीं। यह मानकर चलें कि विकास का अधिकार सभी के लिए समान रूप से विद्यमान है। अपने श्रम से, अपनी लगन और पुरुषार्थ से

कोई भी व्यक्ति आगे बढ़ सकता है। उनकी सफलता पर हम प्रसन्नता प्रकट करें। हो सके तो उनसे यह सीखने का प्रयास अवश्य करें कि उनकी सफलता में कौन-से गुर उपयोगी सिद्ध हुए हैं। उनकी अच्छाइयों को, विशेषताओं को अपनाने का प्रयास करें और उनकी गलतियों से भी सीखें। जो गलतियां उन्होंने की हैं या जो अवसर उन्होंने खोए हैं, उनसे सबक लेकर वैसा आप न करें। अपनी बुद्धि, अपने विवेक और अपने पुरुषार्थ से आप भी आगे बढ़ सकते हैं।

अपनी योग्यता बढ़ाएं

आगे बढ़ने का सबको समान अधिकार है, पर येन-केन-प्रकारेण गलत साधनों का इस्तेमाल कर आगे आने की आकांक्षा एक तरह का सामाजिक विष है। यह प्रवृत्ति स्वयं और समाज—दोनों के लिए भी हितकर नहीं है। दूसरों को गिराने में, काटने और फंसाने में जो शक्ति लगती है, उतनी शक्ति रचनात्मक निर्माण में लगे तो व्यक्ति दस कदम की बजाय बीस कदम आगे बढ़ सकता है। जिस तरह समुद्र कभी जल की याचना नहीं करता, यह मांग भी वह नहीं करता कि मुझे महत्त्व मिलना चाहिए, ज्यादा अधिकार मिलने चाहिए। उसने अपनी योग्यता को बढ़ाया, अपनी क्षमता को और मर्यादा में रहने की अपनी गंभीरता को बढ़ाया तो सारी नदियों का जल स्वतः ही उसे प्राप्त होने लगा। महत्त्वाकांक्षा बढ़े और योग्यता न बढ़े तो वह आकांक्षा भी घातक बन जाती है। यह स्थिति मानसिक तनाव (डिप्रेशन) को आमंत्रण देती है। जो व्यक्ति अपनी योग्यता और क्षमता को बढ़ा लेता है, समाज स्वयं उसे महत्त्व देता है।

असंतुलित जीवन-शैली

प्रतिस्पर्धा की इस रफ्तार ने आदमी की जीवन-शैली को बदल दिया है। उतावलापन, व्यग्रता और अधीरता ने हमारे जीवन में गहराई से अपना स्थान बना लिया है। जो जिंदगी उल्लासपूर्ण होनी चाहिए, वह तनाव से भर गई है। आनंद, उल्लास और सुकून तो जैसे कहीं हवा ही हो गए हैं।

जिन परिस्थितियों में व्यक्ति जी रहा है, किसी के लिए भी उनसे निकल पाना आज बड़ा कठिन-सा है। अपने व्यापार, अपने काम-धंधे या अपनी इच्छाओं को एक झटके में कोई त्यागकर एकांतवास में रह सके, आज यह संभव नहीं है और व्यावहारिक भी नहीं माना जा सकता है। तथापि अपनी मानसिक शांति और स्वास्थ्य के प्रति आदमी पहले से अधिक जागरूक हो रहा है। भौतिकवादी जीवन-शैली के दुष्परिणाम वह देख और भुगत रहा है, इसलिए अपने व्यस्त जीवन में से कुछ समय निकालकर वह प्रकृति की गोद में या किसी ऐसे स्थान पर बिताना चाहता है, जहां उसे शांति मिल सके।

प्रेक्षा ऐसी ही एक प्रकिया है, जो हमें सुख-शांति प्रदान करती है। हमें जिंदगी में सुकून चाहिए तो प्रेक्षा पद्धति को अपने दैनिक जीवन के साथ जोड़ें। यह सुकून तो देगी ही, जीने का तरीका भी बदल देगी। जिंदगी जीने की यह एक वैज्ञानिक पद्धति है, जिसका नाम है—'प्रेक्षा'। घबराएं नहीं, इसे जी कर देखें। थोड़ा-थोड़ा अभ्यास बढ़ाएं। एक नया मोड़, एक नया प्रस्थान हमें मालूम देगा अपने जीवन में।

अपनी जीवन-शैली बदलें

आज यह स्पष्ट अनुभव किया जा रहा है कि जीवन को व्यवस्थित, शांतिपूर्ण और आनंदमय बनाना है तो अपनी जीवन-शैली को बदलना ही होगा। जीवन-शैली को बदले बिना मानसिक तनाव से मुक्त नहीं हुआ जा सकता। तनाव जैसे-जैसे जीवन में बढ़ता जाएगा, वह अनेक बीमारियों और विभिन्न प्रकार की समस्याओं को अपने साथ लेकर आएगा। यह तनाव जीवन को अंधकार की ओर ले जाने वाला ही साबित होगा।

स्वस्थ जीवन-शैली के लिए पहला प्रयास यह होना चाहिए कि जीवन के प्रति हम अपना दृष्टिकोण बदलें। जो दृष्टिकोण पदार्थवादी-भौतिकवादी बन गया है, वह आत्मलक्ष्यी बने। यह समझ हमारी स्पष्ट रहनी चाहिए कि पदार्थ मेरे लिए है, मैं पदार्थ के लिए नहीं हूं। पदार्थ मेरे जीवन के लिए सहयोगी या उपयोगी मात्र है, मैं सिर्फ उसी के लिए नहीं जी रहा हूं। मेरे जीवन का लक्ष्य इससे बहुत ऊंचा है।

स्वस्थ जीवन-शैली का दूसरा कदम है—संतुलित जीवन। प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन बने। कोरी प्रवृत्ति ही प्रवृत्ति तनाव को पैदा करने वाली स्थिति है। जितना बोलना जरूरी है, उतना ही न बोलने का अभ्यास, खाना जितना जरूरी है, उतना न खाने का भी अभ्यास और जितना सोचना जरूरी है, उतना न सोचने का भी अभ्यास जरूरी है। इससे जीवन में सहज संतुलन आता है। बाहर की ओर जितना ध्यान केंद्रित है, उसका शतांश भी हम अपने भीतर की ओर, अपनी पारिवारिक शांति, बच्चों के विकास और उनके संस्कारों पर भी केंद्रित करें।

योग को बनाएं दिनचर्या का अनिवार्य अंग

स्वस्थ जीवन-शैली का तीसरा कदम—योगाभ्यास। अपने व्यक्तिगत जीवन को स्वस्थ और आनंदमय बनाने के

लिए अपना कुछ समय योगासन और प्रेक्षाध्यान के अभ्यास में लगाएं। हल्का, शुद्ध शाकाहारी भोजन, कुछ ध्यान-साधना, नियमित व्यायाम, सरल योगासन आदि को जीवन-शैली में जोड़ने, अपनाने की सलाह किसी भी व्यक्ति को दी जा सकती है। शारीरिक, मानसिक एवं भावात्मक स्तर पर स्वास्थ्य को अच्छा बनाए रखने के लिए योग और ध्यान को नियमित दिनचर्या का अंग बना लेना अति आवश्यक है। प्रातःकाल का समय इसी के लिए सुनिश्चित कर लेना चाहिए।

हम यह मानकर चलें कि ध्यान, जप, योगासन आदि के लिए लगा समय व्यर्थ नहीं, यह जीवन के लिए परम उपयोगी और आवश्यक है। यह धारणा सुदृढ़ बनाएं कि—

1. अपने स्वभाव-परिवर्तन के लिए मैं यह समय लगा रहा हूं।
2. अपनी आंतरिक क्षमता को बढ़ाने के लिए मैं यह समय लगा रहा हूं।
3. परिवार एवं व्यापार आदि को सही नेतृत्व दे सकने की अपनी क्षमता को विकसित करने के लिए मैं यह समय लगा रहा हूं।
4. अपनी आत्मशांति के लिए मैं यह समय लगा रहा हूं।

इसी भावना के साथ बिना एक दिन भी छोड़े नियमित रूप से इस कार्य के लिए समय सुनिश्चित करना चाहिए। हो सके तो प्रातः जल्दी उठना सर्वोत्तम रहेगा। स्वस्थ जीवन के लिए यह आवश्यक है कि सूरज की पहली किरण आने से पहले हम अपना बिस्तर छोड़ दें।

स्वस्थ जीवन के लिए प्रेक्षा को अंगीकार करना, इसके प्रयोग करना आवश्यक है। यह समग्र जीवन पद्धति है। इससे विचार और आचार दोनों ही शुद्ध बनते हैं। जीवन का दर्शन स्पष्ट होता है। यह दिनचर्या विकास में कहीं बाधक नहीं बनेगी, अपितु स्वस्थ विकास का मार्ग प्रशस्त करेगी।

❖

धर्म निरंतर परिवर्तित होते रहने वाला अनुभव है। यह कोई दैवी सिद्धांत नहीं है। यह एक आध्यात्मिक चेतना है। आस्था और आचरण, यज्ञ और अनुष्ठान, रूढ़िवादिता और अधिकार, आत्मावलोकन की कला—सब दैवी संबंधों के अधीन होते हैं। जब कोई व्यक्ति अपनी आत्मा को बाह्य गतिविधियों से बाहर निकाल लेता है और आंतरिक रूप से वह अपने को एकीकृत कर एकाग्रता से प्रयत्नशील होता है, तब उसे अजीब, आश्चर्यजनक, पवित्र अनुभव होते हैं, जो उसे स्वयं को गतिशील बनाते हैं, उसे बंधन में कर लेते हैं और उसकी स्वयं की एक सत्ता बन जाती है। जो तर्क और विज्ञान के मानने वाले हैं, वे भी आध्यात्मिक अनुभवों के तथ्यों को स्वीकार करेंगे, जो प्राथमिक और सकारात्मक हैं। हम धर्म विज्ञान के संबंध में मतभेद व्यक्त कर सकते हैं, किंतु तथ्यों से इंकार नहीं कर सकते। जीवन की आग उसके जलने के प्रकट रूप में सहमत होने के लिए लाचार करती है, किंतु आग के चारों ओर बैठे धुआं उड़ाने वालों के टटोलने और अंदाज लगाने से सहमति प्राप्त नहीं होती। उपलब्धि जबकि एक तथ्य है तो वास्तविकता का सिद्धांत एक संदर्भ है। वास्तविकता के साथ संबंध और उसके बारे में दृष्टिकोण के बीच, दैवी रहस्य और ईश्वर के प्रति आस्था के बीच, अंतर है। यह राज्य की धर्म निरपेक्ष अवधारणा का अर्थ है, यद्यपि सामान्य तौर से वह समझ के परे है।

—एस. राधाकृष्णन्

बालकथा

सबसे बड़ा धन

यशपाल जैन

छुट्टी का दिन था। बालकों की एक टोली खेलने निकली। उसमें सब पढ़ने वाले थे और करीब-करीब एक ही उम्र के थे। छुट्टी के दिन वे सब एक जगह इकट्ठे हो जाते थे और मिलकर उनकी टोली खेल के मैदान में जाकर जम जाती थी। कभी कबड्डी खेलते तो कभी क्रिकेट, कभी फुटबॉल तो कभी वॉलीबॉल। आज उन लोगों ने फुटबॉल खेलने का इरादा किया और सब उछलते, कूदते, हंसते, किलकारी भरते खेल के मैदान में जा पहुंचे।

मैदान में पहुंचकर सब बिखरकर थोड़े-थोड़े फासले पर खड़े हो गए और खेल शुरू कर दिया। गेंद जैसे ही उछली कि सब उसे हथियाने की कोशिश करने लगे। फिर तो रंग जम गया। कोई-कोई तो गेंद में ऐसे जोर से पैर जमाता कि वह बहुत ऊंची चली जाती और तब उन सबमें होड़ लगती कि देखें, कौन उसे काबू में करता है। इस होड़ में कभी-कभी उनके सिर भिड़ जाते, धक्का खाकर कोई-कोई गिर भी पड़ता और जब ऐसा होता, सारी टोली खिलखिला उठती।

मैदान में बहुत-से स्त्री-पुरुष-बच्चे घूम रहे थे; लेकिन बच्चों की यह टोली अपने खेल में मस्त थी। कौन आ रहा है, कौन जा रहा है, इस ओर उनका तनिक भी ध्यान न था।

इस तरह काफी देर तक खेल चलता रहा। एक बार ऐसा हुआ कि गेंद बड़े जोर से उछली और जब वह हवा में घूमकर नीचे आई तो रोहित नाम के लड़के ने उसे लपकने की कोशिश की। इतने में उसे सुधीर का धक्का लगा और गेंद उन दोनों की अंगुलियों से टकराकर दूर जा पड़ी और एक बड़ा-सा गड्ढा खाकर तेजी से आगे लुढ़क चली। रोहित उसके पीछे दौड़ा। उसे दौड़ते देख दूसरे बालक ठिठक गए। दौड़ते-दौड़ते रोहित आगे निकल गया। जब गेंद की तेजी कुछ कम हुई तो वह उसे पकड़ने को झुका। झुका तो झुका ही रह गया। देखता क्या है कि वहां एक बटुआ पड़ा है। बटुआ! उसका सारा शरीर कांप गया। वह थोड़ी देर चुपचाप उसे देखता रहा! बटुआ है—उसने सोचा— शायद उसमें रुपये हों...बहुत रुपये हों। पर...पर हो सकता है, थोड़े ही हों...यह भी संभव है कि कोई थोड़ी-सी रेजगारी ही उसमें डालकर निकला हो! जो हो, वह बटुआ है, और...उसका नहीं है!

> *आधा घंटा बीता, एक घंटा बीता, दो घंटे बीते, पर रोहित की आशा के विपरीत बटुए को खोजता हुआ कोई नहीं आया। बालक का जी ऊबने लगा। अच्छी मुसीबत उसने बैठे-बिठाए सिर मोल ले ली! घर पर मां बाट जोह रही होगी! क्यों न वह बटुए को वहीं रख दे और घर चला जाए? पर उससे क्या होगा! कोई भी उसे उठा ले जाएगा! इतनी बड़ी रकम कौन छोड़ेगा!*

बहुत-सी बातें जरा-सी देर में उसके दिमाग में दौड़ गईं। उसने इधर-उधर देखा, कोई भी पास न था। उसने उस बटुए को उठा लिया। हाथ में आने पर अनुभव हुआ कि वह भारी है, पर उसे खोलने की उसे हिम्मत न हुई। फिर उसने गेंद उठाई और टोली में आ मिला। साथी उसकी राह देख रहे थे। एक हाथ में गेंद और दूसरे में बटुआ देखकर सबने उसे घेर लिया। रोहित ने कहा, 'यह बटुआ वहां पड़ा था।'

टीमो ने पूछा, 'क्या है इसमें?'

रोहित ने जवाब दिया, 'मुझे क्या पता! भारी है। लगता है—काफी रुपये हैं।'

सुधीर ने कहा, 'आज किसी अच्छे का मुंह देखकर उठा होगा, जो इतना माल हाथ लगा!'

देवेंद्र ने कहा, 'बड़ा अच्छा हुआ। चलो, रसगुल्ले खाएंगे।'

मंजुल जरा पीछे था। रसगुल्ले की बात सुनी तो आगे बढ़ गया। बोला, 'देखी, इस देवेंद्र की लाटसाहबी! रसगुल्ले खाएगा! जी नहीं, हम तो बाईस्कोप देखेंगे। क्यों रे मोहन, बोलता क्यों नहीं?'

मोहन चुपचाप खड़ा उन लोगों की बातें सुन रहा था। बोला, 'पहले यह तो देखो कि बटुए में कितने रुपये हैं? तब कुछ तय करेंगे।'

बात सबको पसंद आई। रोहित ने बटुआ खोलकर रुपये और रेजगारी निकाली। गिनी। गिनते-गिनते सब भौचक्के रह गए। एक सौ बाईस रुपये, पचास पैसे!

रोहित बड़ा भला लड़का था। रुपयों और रेजगारी को बटुए में रखते-रखते उसकी आंखें डबडबा आईं। जिसका बटुआ खोया है, उस बेचारे पर क्या बीत रही होगी! जाने किस काम के लिए वह रुपये लेकर निकला होगा! हो सकता है, कहीं बाहर का आदमी हो और अपने पैसे खोकर मुसीबत में पड़ गया हो!...

बड़ी रकम देखकर बालकों की मांग बढ़ गई। रसगुल्ले, चाट, बाईस्कोप और न जाने किन-किन चीजों की फरमाइश होने लगी। पर रोहित गहरे सोच में डूब गया। रह-रहकर बटुए वाले की भांति-भांति की मुसीबतों के चित्र उसके दिमाग में उभरने लगे।

उसे यों खोया देखकर देवेंद्र ने उसके कंधे को झकझोरकर कहा, 'क्या सोंच रहा है रे?' हमें खिलाएगा-पिलाएगा नहीं तो क्या इन रुपयों से हाथी-घोड़े खरीदेगा?

रोहित को छोड़कर सारी टोली खिलखिला उठी। रोहित को बड़ा बुरा लगा। उसने रुंधे गले से कहा, 'तुम लोग दांत फाड़ रहे हो; पर जरा उसकी भी तो सोचो, जिसका बटुआ खोया है!'

'क्या सोचें!' टीमो बोल उठा, 'जिसे रुपये रखने की तमीज नहीं, उसे खोने का क्या गम होगा!'

देवेंद्र बोला, 'चलो, अब देर हो रही है।'

रोहित सोच रहा था—इतने बड़े शहर में वह उस बटुए वाले को कहां खोजेगा? तभी अचानक उसके भीतर से किसी ने कहा, 'तू परेशान क्यों होता है? जिसका बटुआ है, वह खोजते-खोजते आप ही आएगा, जरूर आएगा। रकम थोड़ी नहीं है।'

रोहित ने तय किया कि बटुआ लेकर वह वहीं बैठा रहेगा। अपना इरादा उसने साथियों को बताया तो वे हंस पड़े। सुधीर ने कहा, 'ठीक है, धर्मराजजी, जो आपके जी में आए, कीजिए। हम लोग तो जाते हैं।'

मंजुल बोला, 'क्यों, नीयत बिगड़ गई? सारा माल अकेले ही हड़प जाना चाहते हो?'

उन बालकों ने अपनी-अपनी समझ के हिसाब से बहुत-सी बातें कहीं, पर वे जानते थे कि रोहित अपनी धुन का पक्का है। जो ठान लेता है, करके ही रहता है। सो सबने मिलकर थोड़ी देर बटुएवाले की राह देखी, फिर रोहित को वहीं बैठा छोड़कर सब चले गए।

रोहित अकेला रह गया तो तरह-तरह के विचार उसके मन में उठने लगे। आखिर वह कब तक वहां बैठा रहेगा? भीतर से किसी ने कहा—'हां, बता, वह नहीं आया तो?' 'तो क्या?' रोहित ने सिर झटककर कहा, 'जब तक रात नहीं हो जाएगी, मैं यहीं बैठा रहूंगा। बेचारा बटुएवाला...कितना दुखी हो रहा होगा!'

थोड़ी देर तक वह इधर-उधर देखता रहा। फिर उसे अचानक सूझा कि बटुए को पुलिस में क्यों न दे दें!...पर उससे क्या होगा? पुलिस को क्या पड़ी है कि वह उसके मालिक को खोजने का सिरदर्द मोल ले! जी नहीं, वह स्वयं ही वहां बैठा रहेगा!

बहुत-कुछ सोचने के बाद रोहित ने तय किया कि रात तक अगर कोई उसे लेने न आया तो वह उसको घर ले जाकर मां के हवाले कर देगा और अपने पिताजी से कहकर अखबार में निकलवा देगा कि जिसका बटुआ हो, वह उसके घर आकर ले जाए।

पर नहीं, इसकी नौबत नहीं आएगी। बटुएवाला आता ही होगा। रोहित और मजबूती के साथ बैठ गया। मर्द, औरतें, बच्चे आते थे और घूमते हुए आगे बढ़ जाते थे। रोहित उनमें से हरएक की चाल देखता था,

चेहरा देखता था और उसे परेशान न पाकर समझ जाता था कि वह नहीं है।

आधा घंटा बीता, एक घंटा बीता, दो घंटे बीते, पर रोहित की आशा के विपरीत बटुए को खोजता हुआ कोई नहीं आया। बालक का जी ऊबने लगा। अच्छी मुसीबत उसने बैठे-बिठाए सिर मोल ले ली! घर पर मां बाट जोह रही होगी! क्यों न वह बटुए को वहीं रख दे और घर चला जाए? पर उससे क्या होगा! कोई भी उसे उठा ले जाएगा! इतनी बड़ी रकम कौन छोड़ेगा!

दिन का अंत हो गया। संध्या ने अंधेरे की चादर फैलानी शुरू कर दी। पर रोहित वहीं बैठा रहा।

थोड़ी देर बाद अचानक वह देखता क्या है कि एक लड़की घबराई-सी इधर-उधर धरती पर कुछ खोजती उधर आ रही है। उसकी व्यग्रता को देखकर रोहित को लगा कि हो न हो, यह बटुआ इसी का है। वह चुपचाप उठा और उसके पास जाकर बोला, 'क्या खोज रही हो बहनजी?'

लड़की ने निगाह उठाकर रोहित की ओर देखा, पर एक साथ उसके मुंह से कोई शब्द न निकला। वह शायद रास्ते-भर रोती आई थी और उसका गला इस समय भी भरा हुआ था। कुछ संभलकर बोली, 'यहां कहीं मेरा बटुआ गिर गया है।'

'कैसा था?' रोहित ने अगला सवाल किया।

लड़की ने बता दिया।

'उसमें कितने रुपये थे?'

लड़की के होंठ सूख रहे थे। उन पर जीभ फिराती हुई बोली, 'बहुत थे। जो-कुछ मेरे पास था, सब उसी में था।...मुझे कालेज की फीस देनी थी...कुछ किताबें लेनी थीं। हे राम!'

'फिर भी, कितने रुपये थे?'

'सौ से ऊपर!'

'अब क्या करोगी?'

लड़की ने लंबी सांस ली। उसकी आंखें डबडबा आईं। उन्हें चुन्नी के छोर से पोंछते हुए बोली, 'क्या बताऊं! मेरा भाग्य बड़ा खोटा है!'

रोहित को पक्का भरोसा हो गया कि बटुआ उसी का है। उसने जेब से निकालकर बटुआ उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा, 'देखिए, कहीं यह तो नहीं है!'

बटुआ देखते ही लड़की की आंखें चमक उठीं। शरीर में आनंद की एक लहर दौड़ गई। बोली, 'भैया, तुमने मुझे बचा लिया, नहीं तो मैं कहीं की न रहती!'

लड़की ने बटुआ हाथ में ले लिया। उसकी खुशी का ठिकाना न था। और रोहित? उसकी तो कुछ न पूछिए। उसका दिल आनंद से बल्लियों उछल रहा था। बोला, 'बहनजी, रुपये गिन लीजिए। ठीक हैं न?'

लड़की सहम गई। बोली, 'कैसी बात करते हो, भैया!'

रोहित ने आग्रह किया तो लड़की ने बटुए को खोला और रुपये गिने। पूरे-के-पूरे निकले। उनमें से दस-दस के दो नोट रोहित की ओर बढ़ाती हुई बोली, 'ये लो। यह तुम्हारा इनाम है।'

रोहित का चेहरा तमतमा उठा। बोला, 'इनाम! कैसा इनाम?'

लड़की ने कहा, 'कितना बड़ा काम किया है तुमने? कोई और होता तो लौटाता इसे?'

रोहित ने गंभीर होकर कहा, 'बहनजी, आप इसे बड़ा काम कहती हैं! यह तो एक ऐसा कर्तव्य है, जिसे हम सबको करना चाहिए।'

लड़की ने आगे बढ़कर बड़े प्यार से रोहित की पीठ थपथपाई। रोहित ने कहा, 'बहनजी, आप मुझे कुछ देना ही चाहती हैं तो यह वचन दीजिए कि आगे आप कभी इतनी बेखबर न रहेंगी।'

एक बालक के मुंह से यह बात सुनकर वह लड़की चकित रह गई।

इसके बाद उस बहन से विदा लेकर रोहित इतना उछलता-कूदता घर की ओर चला, मानो राम लंका जीतकर अयोध्या लौट रहे हों! उसके पैर धरती पर नहीं पड़ रहे थे।

घर पहुंचा तो बहुत देर हो चुकी थी और मां कई बार द्वार पर आ-आकर बाहर झांक गई थीं। रोहित छुट्टी के दिन कभी इतनी देर बाहर नहीं रहता था, यह सोचकर उन्हें बड़ी बेचैनी हो रही थी। खीज भी।

रोहित के घर में घुसते ही मां ने कड़ाई से पूछा, 'क्यों रे, इतनी देर तक कहां रहा?'

रोहित ने एक सांस में सारा हाल कह सुनाया। सुनकर मां का हृदय विभोर हो उठा। बड़े प्यार और ममता से उन्होंने अपने बेटे को छाती से लगा लिया। उनकी आंखों में पानी आ गया। बोलीं, 'मेरे प्यारे बेटे, तूने आज अपने घर का नाम ऊंचा किया। मुझे तुझसे यही आशा थी।'

रोहित पुलकित हो उठा।

मां कहती गईं, 'बेटे, हम गरीब हैं तो क्या, हमारे पास ऐसा धन है, जो बड़ों-बड़ों के पास भी मुश्किल से मिलेगा।' ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-कविता भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

दूरभाष : 235 7956/7269, फैक्स : 033 2357269 तार : तेरापंथी

महासभा विजन 2007

विशेष संगोष्ठी एवं दिल्ली क्षेत्र की संगठन यात्रा

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा के पदाधिकारीगण के प्रतिनिधि मंडल द्वारा दिल्ली क्षेत्र की यात्रा की गई।

इसमें सहभागी थे—महासभा अध्यक्ष श्री सुरेंद्र चौरड़िया, प्रधान ट्रस्टी श्री रणजीतसिंह कोठारी, उपाध्यक्ष श्री भंवरलाल बैद, महामंत्री श्री तरुण सेठिया, ट्रस्टी श्री सुरेंद्र दूगड़ एवं श्री भीखमचंद पुगलिया, पूर्व महामंत्री श्री भंवरलाल सिंघी तथा अ. भा. ते. यु. प. के अध्यक्ष श्री पन्नालाल पुगलिया।

संगठन यात्रा में शाहदरा, रोहिणी एवं फरीदाबाद की यात्रा कर वहां की एवं निकटवर्ती सभाओं के साथ संपर्क किया गया।

इसी के साथ महासभा के तत्त्वावधान में एक कार्यकर्ता संगोष्ठी का आयोजन अहिंसा-यात्रा प्रवक्ता मुनिश्री लोकप्रकाशजी 'लोकेश' के सान्निध्य में तेरापंथी सभा, दिल्ली के आयोजकत्व में किया गया।

इस संगोष्ठी के प्रारंभ में श्री शांतिकुमार जैन अध्यक्ष, तेरापंथी सभा, दिल्ली द्वारा आगंतुक अतिथिवृंद का स्वागत करते हुए इस विशिष्ट आयोजन एवं महासभा के निरंतर विकास पर प्रसन्नता व्यक्त की गई।

संयोजकीय वक्तव्य में श्री भंवरलाल सिंघी द्वारा इस आयोजन की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई एवं श्रद्धेय आचार्यप्रवर एवं युवाचार्यश्री के इस अवसर पर विशेष रूप से प्राप्त संदेशों का वाचन किया गया।

महासभा के उपाध्यक्ष श्री भंवरलाल बैद ने साध्वी-प्रमुखाश्री कनकप्रभाजी के संदेश का वाचन किया।

महासभा के महामंत्री श्री तरुण सेठिया ने महासभा की गतिविधियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हुए इस आयोजन के विशिष्ट पक्षों पर अपने विचार प्रस्तुत किए।

अपने विचार रखते हुए श्री टोडरमल लालानी ने महासभा के गठनकाल एवं तदुपरांत की घटनाओं का उल्लेख करते हुए इसके वर्तमान स्वरूप पर हर्ष व्यक्त किया एवं महासभा की सुदृढ़ता में सहभागी बनने हेतु जन-जन का आह्वान किया।

श्री सुखराज सेठिया ने दिल्ली समाज की ओर से स्वागत करते हुए महासभा के युवा नेतृत्व में विकास की मंगल कामना की एवं आशा प्रकट की कि पूरा समाज इसके अभियानों के साथ जुड़ेगा।

महासभा के पूर्व अध्यक्ष शासनसेवी श्री कन्हैयालाल छाजेड़ ने निम्नलिखित बिंदुओं पर महासभा को विशेष ध्यान देने हेतु कहा—महासभा की गरिमा से सब परिचित हों, सभाओं पर महासभा का प्रभाव हो, सभाओं के दायित्वबोध में वृद्धि हो एवं सही प्रतिनिधित्व के साथ प्रभावी जैन मंच की स्थापना हो।

अपने ओजपूर्ण वक्तव्य में मुनिश्री लोकप्रकाशजी 'लोकेश' ने महासभा के युवा नेतृत्व के द्वारा संगठन को सशक्त बनाने हेतु चलाए जा रहे प्रयासों का उल्लेख करते हुए महासभा के अभियान से जन-जन के जुड़ाव को संघीय विकास हेतु आवश्यक बताया। आपने कहा कि संघीय हितों को सर्वोपरि मानते हुए व्यक्तिगत चिंतन को गौण करना कार्यकर्ताओं का कर्तव्य है। अनुशासन के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए आपने कार्यकर्ता प्रशिक्षण एवं संस्कार सुदृढ़ीकरण पर बल दिया।

महासभा अध्यक्ष श्री सुरेंद्र चौरड़िया ने स्वागत एवं व्यवस्था हेतु दिल्ली सभा एवं दिल्ली समाज के कार्यकर्ताओं को हार्दिक धन्यवाद दिया।

संगोष्ठी में—'संघ विकास : हमारी परकिल्पना' विषय पर बोलते हुए श्री सुरेंद्र चौरड़िया ने इसके पांच मुख्य बिंदुओं पर प्रकाश डाला :

1. क्षेत्रीय केंद्र परियोजना

2. संस्था संचालन—युगीन अपेक्षाएं

3. सशक्त केंद्रीय सचिवालय

4. आर्थिक सुदृढ़ता

5. सुदृढ़ संचार तंत्र का विकास

आपने कहा कि अगले पांच वर्षों में 2007 वर्ष की समाप्ति तक जितने कार्य करने हैं उनकी ओर अभी से योजनाबद्ध चिंतन, निर्णय और क्रियान्विति की ओर हम संकल्पबद्ध होकर आगे बढ़ेंगे।

महासभा के आर्थिक सुदृढ़ीकरण हेतु चलाए जा रहे स्थाईकोष अभियान की जानकारी देते हुए सभी को इसके जुड़ाव हेतु आह्वान किया गया। अनेक व्यक्तियों और परिवारों ने इस हेतु उदारतापूर्वक अपनी स्वीकृति प्रदान की।

समणी निर्देशिका मल्लीप्रज्ञाजी ने ज्ञानशाला आदि कार्यक्रमों को युगीन आधुनिक स्तर पर संचालित करने पर बल देते हुए सुदृढ़ तंत्र व व्यवस्थित प्रचार-सामग्री की आवश्यकता बताई। इस अवसर पर दिल्ली तेरापंथी सभा द्वारा शासनसेवी अलंकरण प्राप्ति हेतु श्री कन्हैयालालजी छाजेड़ का सम्मान किया गया। आगत दीक्षार्थी भाई श्री अक्षय मोदी का अभिनंदन किया गया।

श्री पन्नालाल पुगलिया, अध्यक्ष, अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद् ने श्री छाजेड़ का अभिनंदन करते हुए महासभा विजन 2007 के संदर्भ में अपने ओजपूर्ण विचार प्रस्तुत किए। दिल्ली सभा द्वारा महासभा के पदाधिकारीगण का, साहित्य एवं स्मृतिचिह्न प्रदान कर सम्मान किया गया। महासभा ने दिल्ली सभा एवं स्थानीय सभाओं को मोमेंटो भेंट किए। ❖

मैं 'वसुधैव कुटुंबकम्' के सिद्धांत में विश्वास करता हूं। ज्ञान का प्रकाश पूर्व से पश्चिम को मिला है। इन (प्रकाश फैलाने वाले) महान शिक्षकों ने हमारे लिए प्रेम का जो संदेश छोड़ा, उसका उत्तराधिकारी बन जाने के बाद मैं और किसी सिद्धांत में विश्वास कर भी कैसे सकता हूं? इन मनीषियों में सबसे पहले जरथुस्त्र हुए थे। वे पूर्व के थे। उनके बाद बुद्ध हुए, जो पूर्व के हिंदुस्तान के थे। बुद्ध के बाद कौन हुआ? ईसा मसीह। वे भी पूर्व के थे। ईसा से पहले मूसा हुए। यहां मैं राम, कृष्ण और दूसरे महापुरुषों का नाम लेता। मैं उन्हें कम महान् नहीं मानता, मगर साहित्यिक दुनिया उनसे कम परिचित है। जो हो, मैं दुनिया के ऐसे एक भी व्यक्ति को नहीं जानता, जो एशिया के इन महापुरुषों की बराबरी कर सके।

और तब क्या हुआ? ईसाई धर्म जब पश्चिम में पहुंचा तो उसका स्वरूप बिगड़ गया। मुझे अफसोस है कि मुझे ऐसा कहना पड़ रहा है। इस विषय में और नहीं बोलूंगा। जो बात मैं आपको समझाना चाहता हूं, वह एशिया का संदेश है। उसे पश्चिम के दृष्टिकोण से या परमाणु बम की नकल करके नहीं सीखा जा सकता। अगर आप पश्चिम को कोई संदेश देना चाहते हैं तो वह प्रेम या सत्य का संदेश होना चाहिए।

प्रजातंत्र के इस जमाने में, गरीब-से-गरीब की जागृति के इस युग में आप ज्यादा-से-ज्यादा जोर देकर इस संदेश का दुनिया में प्रचार कर सकते हैं। चूंकि आपका शोषण किया गया है, इसलिए शोषण का शोषण से बदला चुका कर नहीं, बल्कि सच्ची समझदारी के जरिए आप पश्चिम पर पूरी तरह विजय पा सकते हैं।

—महात्मा गांधी

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

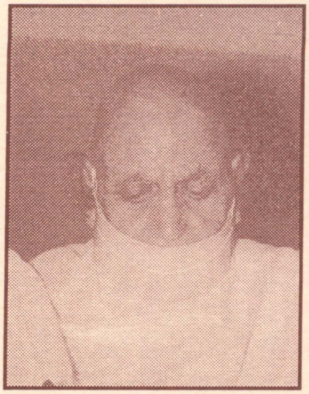

मनोहर, माँगीलाल, श्रीमती विमलादेवी, शान्तिलाल
संजय, मनीष, नवीन छाजेड़

Sha Mangilal Shantilal & Co.

Manufacturers and Wholesale Suppliers of

Pure Silk Sarees, Handloom Silks, Pure Crapes and Art Silk Sarees

'Shanti Bhavan', 64, A.M. Lane, (19-25, First Cross, D.K. Lane)

Chickpet, Bangalore 560053

Phone : Shop : 2261462, 2205965 Fax : 080-2384004

We owe it to you Customers !

It is easy to be No. 1, but difficult to remain there. But, we have been doing it for the past 5 years with our dedicated services and thanks to the invaluable support & trust in us by our valued customers. With promptness in-built, we have been serving the Indian Industries tirelessly against their requirements of **Bearings, Grease, Seals, Blocks, Sleeves & accessories** and **a variety of Maintenance Products** and **Condition Monitoring systems of SKF.** The New Millennium is on; an era that will bring forth a fresh batch of discoveries, newer wonders in technology, a greater fillip to standards of life as a whole. Rest assured, Premier (India) Bearings Limited will remain very much a participant to this absorbing, all-engaging process and will be there with you to meet your requirements.

SKF

Bearing is not our only business.

CR

Premier (India) Bearings Limited

(India's No. 1 SKF Industrial Distributors)

25 Strand Road, 4th Floor, Kolkata 700001, Ph-2220-1926 / 0640, Fax - 22485745, Email-pibl@vsnl.com

Branches at - Mumbai, Chennai, Bangalore, New Delhi, Chandigarh & Haldia

भँवरलाल सिंघी, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।